श्रीमद् भागवत महापुराण में नीति एवम् आचार

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)
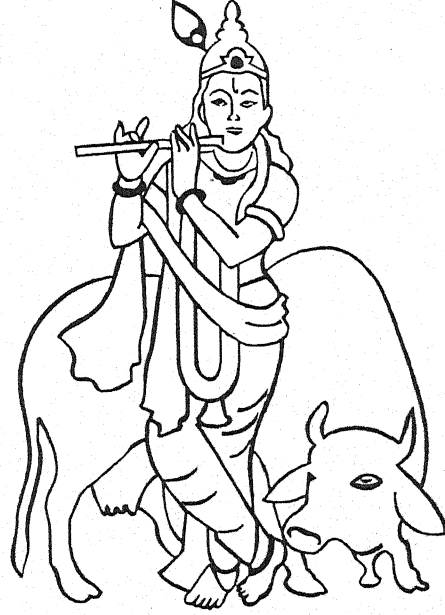
वर्ष २००२

निर्देशक-

डॉ. गदाधर त्रिपाठी

रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
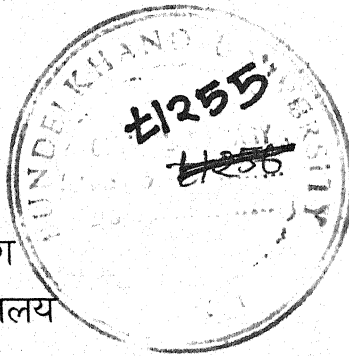
मऊरानीपुर (झाँसी) उ. प्र.

शोधार्थी

श्रीमती मेधा देवधर
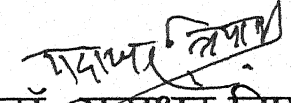
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी) उ.प्र.

प्रमाण-पत्र

श्रीमती मेधा देवधर ने 'श्रीमद् भागवत में नीति एवं आचार' विषय पर मेरे निर्देशन में निर्धारित समय तक रहकर यह कार्य सम्पन्न किया है। इनका यह कार्य स्तरीय होने के साथ-साथ इनकी शोध बुद्धि को भी प्रमाणित करता है।

मैं इनके जीवन में सतत् साफल्य की कामना करता हूँ।

गदाधर त्रिपाठी

डॉ. गदाधर त्रिपाठी
रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी) उ. प्र.

महा शिवरात्रि
सम्वत् २०५९

प्रस्तावना

यदि इस मान्यता को कि साहित्य जीवित रहने की शक्ति पाने और विधि जानने के लिए पढ़ा जाता है तो श्रीमद् भागवत पुराण इसका उत्तम उदाहरण है, जिसकी जीवन-दर्शन से भरी कितनी ही पंक्तियों को संचित कर उनके सहारे जीवन काटा जा सकता है। जीवन वही है जो सतत् गतिशील है, इस गतिशीलता में अध्ययन, मनन और चिन्तन महत्त्वपूर्ण है। कहीं भी कभी भी हम कुछ सीख सकते हैं इसके लिए देश या काल का कोई बन्धन नहीं।

शास्त्रों में भी काव्यशास्त्रों के पठन्-पाठन द्वारा समय-यापन की बात कही गई है-

"काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"

उपनिषद् भी कहते हैं-"स्वाध्यायान्मा प्रमदः" अर्थात् स्वाध्याय में आलस मत करो, यही सब बातें निरन्तर कुछ करते रहने के लिए प्रेरित करती रही हैं।

इसी दृष्टि से शासकीय शिक्षा में व्यस्त रहते हुए भी मैंने अपने जीवन में कुछ साहित्यास्वादन की दृष्टि से शोधकार्य प्रारम्भ करने का विचार किया और सोचा कि कोई ऐसा विषय लिया जाये, जो जनमानस को प्रभावित करने वाला हो। अध्ययन के समय एक पंक्ति बार-बार पढ़ने और सुनने में आती थी-"विद्यावतां भागवते परीक्षा" ज्ञान और विद्वत्ता की परीक्षा भागवत में होती है। कारण विद्वानों का मत है कि एक-एक श्लोक के २४-२४ अर्थ भी निकाले जा सकते हैं। स्वयम् भागवत के विषय में प्रचलित है -

व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति, धनञ्जयो वेत्ति वा न वा
श्रीधरः सकलं वेत्ति, श्रीनृसिंह प्रसादतः ॥

एतदर्थ श्रीमद् भागवत महापुराण में "नीति एवं आचार" इस विषय को चुना, क्योंकि पुराण साहित्य इस देश के साहित्य का गौरव शील साहित्य है। भारतीय वाङ्मय के सुप्रसिद्ध जर्मनविद् मैक्समूलर ने कहा है कि "यदि मुझसे पूछा जाये कि विश्व के किस देश में मानव मस्तिष्क ने विकास के उच्चतम शिखर को छुआ, जीवन और जगत की गुत्थियों का अध्ययन किया और कुछ को सुलझा भी लिया तो मैं कहूँगा कि वह देश भारत है" कहना न होगा कि मानव मस्तिष्क और सभ्यता के इस बिन्दु पर भारतीय वाङ्मय विशेषकर श्रीमद्-भागवत पुराण का विशिष्ट योगदान है।

पुराण साहित्य में भी श्रीमद् भागवत ग्रन्थ एक प्रकार से सभी पुराणों की फल-श्रुति जैसा है जिसकी रचना करके महर्षि व्यास ने स्वयं को कृतकार्य किया था और जिसे शुकमुख से निर्गलित अमृत फल कहा गया। आज इस महाग्रन्थ का न केवल जन-जन में प्रचार-प्रसार है अपितु इसे सुनकर जनता भावमग्न, रसमग्न हो जाती है । यही विचार कर श्रीमद् भागवत महापुराण में नीति एवम् आचार विषय शोधकार्य के लिए चुना है। आशा करती हूँ कि आज जबकि नैतिक तथा आचारात्मक मान्यताएँ निरन्तर ह्रासोन्मुख हो रही हैं तब इस प्रकार का अध्ययन न केवल ज्ञान के क्षेत्र में अभिवृद्धि करेगा अपितु इससे विश्रृंखलित होते जा रहे समाज को दिशा बोध भी प्राप्त होगा।

इस शोध-प्रबन्ध को विषय प्रवेश:, पुराण परम्परा एवम् श्रीमद् भागवत, श्रीमद्-भागवत में लोकनीति तथा आचार, श्रीमद् भागवत में राजनीति एवम् अर्थनीति और श्रीमद्-भागवत में धर्मनीति एवम् आचार; इन पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

इस क्रम में मैं अपने गुरुवर डॉ. गदाधर त्रिपाठी जी के प्रति नम्र आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके कुशल निर्देशन से यह शोध-प्रबन्ध पूरा हो सका। जब कभी मैंने उनसे समय माँगा, उनसे कुछ जानना चाहा, वे सहर्ष मेरे अनुरोध को स्वीकार करते रहे और मेरा मार्गदर्शन करते रहे।

अपने अध्ययन कालीन गुरुवर्य डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी का भी स्मरण करना चाहूँगी जिनके पाण्डित्य ने मुझे शोध-कार्य की प्रेरणा दी। छतरपुर केन्द्रीय विद्यालय के पूर्व प्राचार्य डॉ. अच्युतानन्द झा की सहजता और विनम्रता ने इतना साहस दिया कि कभी भी विषय से सम्बद्ध किसी भी शंका का मैं तत्काल समाधान प्राप्त कर सकी। आचार्य केशव प्रसाद मिश्र के प्रति भी मैं अपना विनम्र आभार व्यक्त करती हूँ।

मेरी स्वर्गीय सासु माँ श्रीमती कमला बाई देवधर का स्मरण करना चाहूँगी जो सदैव मेरे अध्ययन-अध्यापन में सहायक बनीं और निरन्तर पठन-पाठन के लिए मुझे प्रेरित करती रहीं। अपने पूज्य पिताजी श्रीयुत् श्रीराम गोविन्द बेड़ेकर को भी मैं सादर नमन करती हूँ जिन्हें संस्कृत भाषा से विशेष प्रेम है और जिनका अधिकांश समय इसी भाषा के ग्रन्थों को पढ़ने में व्यतीत होता है।

अपने पितृतुल्य जेठ श्री उपेन्द्र केशव देवधर को भी मैं सादर नमन करती हूँ,

जिन्होंने सदैव मेरी प्रगति को चाहा और विदेश में दूर रहते हुए भी मेरे शोध कार्य की प्रगति के विषय में निरन्तर पूछताछ करते रहे।

मैं अपने पति श्री सुनील केशव देवधर का भी यहाँ उल्लेख करना चाहूँगी जो इस कार्य में मेरे साधक बने, मेरा आधार बने।

प्रभू मल्टीमीडिया के डॉ. अरविन्द सोनी के प्रति धन्यवाद औपचारिकता ही होगी क्योंकि उनकी सदाशयता का ही परिणाम है कि यह शोधग्रन्थ आपके हाथ में है।

शोधग्रन्थ को पूरा करने का तनिक भी अभिमान मन में नहीं है क्योंकि संस्कृत के उत्कृष्ट टीकाकार मल्लिनाथ ने कहा है-" नामूलं लिख्यते किञ्चित् " अर्थात् कुछ भी सर्वथा मौलिक नहीं कहा जा सकता लेकिन वह यह भी कहते हैं-"नानपेक्षितमुच्यते " अर्थात् लिखा गया अनपेक्षित भी नहीं है इसलिए इस अपेक्षित शोधग्रन्थ को प्रस्तुत करने का समाधान अवश्य है।

मेधा देवधर

मेधा देवधर

महाराष्ट्र मार्ग

छतरपुर

विस्तृत रूपरेखा

श्रीमद् भागवत महापुराण में नीति एवम् आचार

प्रथम अध्याय

(विषय प्रवेश)

(क) नीति एवम् आचार के अर्थ

(ख) नीति एवम् आचार का सीमित तथा व्यापक स्वरूप

(ग) नीति एवम् आचार का भेद (वैयक्तिक तथा सामाजिक)

(घ) धर्म एवम् नीति (साम्य-वैषम्य)

(ङ) आचार तथा नीति (साम्य-वैषम्य)

द्वितीय अध्याय

(पुराण परम्परा एवम् श्रीमद् भागवत)

(क) पुराण शब्द का अर्थ

(ख) पुराण संरचना की पृष्ठभूमि, समय एवम् रचयिता

(ग) पुराण वर्गीकरण तथा वर्णित विषयों का संकेत

(घ) श्रीमद् भागवत का सामान्य परिचय-

अध्याय

संस्करण

श्लोक संख्या

रचयिता एवम् रचनाकार

(ङ) श्रीमद् भागवत में अभिव्यक्त विभिन्न नीतियाँ तथा आचार

तृतीय अध्याय

(श्रीमद् भागवत में लोकनीति तथा आचार)

(क) श्रीमद् भागवत की समाज व्यवस्था-

वर्णव्यवस्था , आश्रम व्यवस्था

कर्म सिद्धान्त , पुनर्जन्म , संस्कार

(ख) पारिवारिक सम्बन्धों का नैतिक तथा आचारात्मक स्वरूप-

माता-पिता , पति-पत्नी , पुत्र-पुत्री

गुरु-शिष्य , अतिथि

(ग) श्रीमद् भागवत की वैयक्तिक नीति तथा आचार-

लोकाचार के सूत्र करुणा, मैत्री आदि

अवगुण-हठ, प्रतिशोध, ईर्ष्या आदि

शरीर, मन, आत्मा की मान्यता का नैतिक दर्शन

चतुर्थ अध्याय

(श्रीमद् भागवत में राजनीति एवम् अर्थनीति)

(क) श्रीमद् भागवत का शासक वर्ग

(ख) राजा और उसके गुण-दोष

(ग) शासन की ऋजुता तथा नीति

(घ) राजा-प्रजा का नैतिक एवम् आचारात्मक सम्बन्ध

(ङ) श्रीमद् भागवत में अर्थव्यवस्था

(च) जीविकोपार्जन के साधन

कृषि एवं पशुपालन, उद्योग-धन्धे

(छ) राजनीति एवम् अर्थिक नीति का सामञ्जस्य

पञ्चम् अध्याय

(श्रीमद् भागवत में धर्मनीति एवम् आचार)

(क) सामान्य धर्म

(ख) विशेष धर्म

(ग) आश्रम धर्म

(घ) लौकिक धर्म

(ङ) पारलौकिक धर्म

(च) पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री तथा गुरु-शिष्य धर्म

(छ) धर्म एवम् आचार

(ज) धर्म एवम् आचार के सम्बन्धित कारक- अहिंसा, क्षमा आदि

(झ) निष्कर्ष

---------o---------

ग्रन्थ सङ्केत सूची

१-	अथर्व ॥१॥	अथर्ववेद (खण्ड प्रथम)
२-	अथर्व ॥२॥	अथर्ववेद (खण्ड द्वितीय)
३-	आ. गृ. सू.	आश्वलायन गृह्यसूत्र
४-	आ. सू.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
५-	इ. रि. वे. था.	ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट
६-	ई. द्वा. उ.	ईशादि द्वादशोपनिषद्
७-	उ. स्मृ.	उशना स्मृति
८-	उ.स.सं.	उपनिषद् कालीन समाज एवं संस्कृति
९-	ऋ. वे.	ऋग्वेदम्
१०-	ए. बि. ओ. आर. आई.	
११-	ए. मै. ए.	ए मैनुअल ऑफ इण्डिया
१२-	ए. हि. सं. लि.	ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर
१३-	क. उ.	कठोपनिषद्
१४-	कल्याण	हिन्दू संस्कृति अंक
१५-	क. हि. वा. पु.	कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम द वायुपुराण
१६-	का. क.	कादम्बरी कथामुखम्
१७-	कू. पु.	कूर्मपुराणांक
१८-	कौ. अ.	कौटिल्य अर्थशास्त्रम्
१९-	गो. ब्रा.	गोपथ ब्राह्मण
२०-	छा. उ.	छान्दोग्योपनिषद्
२१-	छान्दो.	छान्दोग्योपनिषद्
२२-	ज. रा. ए. सो.	जनरल रायल एशियाटिक सोसायटी पत्र
२३-	तै. आ.	तैत्तरीय आरण्यक
२४-	ग्रे. ए. इ.	द ग्रेट एपिक ऑफ इण्डिया

२५-	दे. भा.	देवी भागवत
२६-	निरुक्त	निरुक्त
२७-	नी. द.	नीति दर्शन की पूर्व पीठिका
२८-	प. पु.	पद्म पुराण
२९-	पा. यो. प्र.	पातञ्जलयोग प्रदीप
३०-	पु. इ. भू.	पुराण इण्डेक्स भूमिका
३१-	पु. त. मी.	पुराण तत्त्व मीमांसा
३२-	पु. प. भाग १	पुराण पत्रिका
३३-	पु. वि.	पुराण विमर्श
३४-	पु. स.	पुराण समीक्षा
३५-	प्रा. आ.	प्रारम्भिक आचारशास्त्र
३६-	ब्र. वै.	ब्रह्मवैवर्त पुराण
३७-	ब्र. पु. सा.	ब्रह्मवैवर्त पुराण सांस्कृतिक विवेचना
३८-	ब्रह्माण्ड. पु.	ब्रह्माण्ड पुराण
३९-	बृहदा.	बृहदारण्यकोपनिषद्
४०-	बृ. स्मृ.	बृहस्पति स्मृति
४१-	बो. ध. सू.	बोधायन धर्मसूत्र
४२-	भ. गी.	भगवद्गीता
४३-	भा. नी.	भारतीय नीतिशास्त्र
४४-	भा. नी. इ.	भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास
४५-	भा. नी. वि.	भारतीय नीति का विकास
४६-	भा. पु.	भागवत पुराण
४७-	म. पु.	मत्स्य पुराण
४८-	म. पु. भाग १	मत्स्य पुराण (कल्याण विशेषांक)
४९-	म. पु. भाग २	मत्स्य पुराण (कल्याण विशेषांक)
५०-	म. स्मृ.	मनुस्मृति

५१-	म. भा.	महाभारत हिन्दी टीका सहित
५२-	म.भा. शा.	महाभारत में शान्ति पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन
५३-	मी. प्र.	मीमांसा प्रमेय
५४-	मु. उ.	मुण्डकोपनिषद्
५५-	मै. ए.	मैनुअल ऑफ एथिक्स
५६-	याज्ञ. स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति
५७-	याज्ञ. स्मृ.२	याज्ञवल्क्य स्मृति
५८-	ला. डि.	द लाइफ डिवाइन
५९-	लि. पु.	लिंग पुराण
६०-	व्या. स्मृ.	व्यास स्मृति
६१-	व. ध.	वशिष्ठ धर्मसूत्र
६२-	वा. पु. १	वायु पुराण
६३-	वा. पु. २	वायु पुराण
६४-	वाल्म. रा.	वाल्मीकि रामायण
६५-	वि. पु.	विष्णु पुराण प्रथम खण्ड
६६-	शत. ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
६७-	शु. नी.	शुक्र नीति
६८-	शु. नी. सा.	शुक्र नीति सार
६९-	स्क. पु.	स्कन्द पुराण
७०-	स्ट. इ. उ.	स्टडीज इन उपपुराणाज़
७१-	स. प्र.	सत्यार्थ प्रकाश
७२-	सं. श. कौ.	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ
७३-	हि. वि. १	हिन्दी विश्व कोश प्रथम खण्ड
७४-	हि. स.	हिन्दू सभ्यता
७५-	हि. ध.२	हिन्दू धर्म भाग-२
७६-	हि. इ. लि.	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर

---------o---------

प्रथम अध्याय

(विषय प्रवेश)

(क) नीति एवम् आचार के अर्थ

(ख) नीति एवम् आचार का सीमित तथा व्यापक स्वरूप

(ग) नीति एवम् आचार का भेद (वैयक्तिक तथा सामाजिक)

(घ) धर्म एवम् नीति (साम्य-वैषम्य)

(ङ) आचार तथा नीति (साम्य-वैषम्य)

प्रथम अध्याय

(विषय प्रवेश)

(क) नीति तथा आचार के अर्थ

भारतीय परम्परा में जब किसी विषय अथवा संदर्भ का प्रतिपादन करना होता है तभी हमारे लिए यह आवश्यक होता है कि हम वेदों का आश्रय लेकर संदर्भित विषय पर विचार करें, क्योंकि यही वे ग्रन्थ हैं जो इस भूमि के प्रारम्भिक और सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।

इस आधार पर यदि नीति तथा आचार के विषय में पर्यवेक्षण किया जाता है तो यह दृष्टिगत होता है कि प्रजापति की उग्र तपस्या से इस समग्र भूमि पर सर्व प्रथम ऋत और सत्य प्रकट हुए।[१] इसके पश्चात् रात्रियाँ एवं समुद्रादि की उत्पत्ति हुई। इस प्रारंभिक संकेत का यह संगत अर्थ हो सकता है कि प्रारम्भ के ऋत और सत्य ही मनुष्य के जीवन संचालन के आधार बने।

ऋत और सत्य के शाब्दिक अर्थों में यह कहा गया है कि ऋत का अर्थ है- उचित,सच्चा और सम्मानिता।[२] जबकि सत्य का शाब्दिक अर्थ है-यथार्थ, ईमानदार और वास्तविक।[३] अन्य स्थानों पर ऋत शब्द का जो अर्थ किया गया है उसके अनुरूप इसके लिए शुभ, सत्य, हित आदि शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। डॉ.राधा कुमुद मुखर्जी लिखते हैं कि वरुण'ऋत'के अधिपति देवता हैं[४] जिसका अर्थ विश्वजनीन नियमों के लिए होता था, जो बाद में नैतिक नियमों के लिए जाना जाने लगा।[५]

....

१. ऋतं च सत्यं चामीधात्तपसोऽध्यजायत।

ततो रात्र्यजायत ततःसमुद्रो अर्णवः॥ ऋक् १०/१९०/१

२. सं. श. कौ. पृ.२६५

३. वही ,पृ.११६

४. भा.नी.वि.पृ.३२

५. हि. स.पृ. १०४

ऋत के धारक के देवता के रूप में वरुण का आधार देने का संकेत संभवत: इसलिये किया गया है क्योंकि यही ऋत के उद्गम हैं, और यह उन्हीं पर आधारित है।[१] उनके धर्म,धामन और व्रतों से नैतिक जीवन आच्छादित है। वैसे ऋत से सम्बन्धित अन्य देवताओं में अग्नि,इन्द्र,आदि का नाम संकेत भी किया गया है।[२] वैसे सत्य के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि सोम सत्य की रक्षा करते हैं और असत्यवादी का संहार करते हैं।[३] इससे यह कहना संगत हो सकता है कि आदि काल में सोम सत्य और ऋत के धारक देवता थे और वही इनको धारण करते थे।

नीति शब्द का संस्कृत व्याकरण के अनुसार जो शाब्दिक अर्थ किया जा सकता है, वह नी धातु में क्तिन् प्रत्यय लगाकर जाना जाता है। इसका अभिप्राय इस रूप में होता है ,ले जाने की क्रिया, युक्ति, आचार पद्धति अथवा राज्य रक्षा के लिए काम आने वाली युक्ति।[४] नीति शब्द का एक अन्य अर्थ यह भी किया गया है कि नीति वह है जिससे ऐहिक तथा आमुष्मिक अर्थ प्राप्त किये जाते हैं।

इसी प्रकार से 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय का योग करने पर जो आचार शब्द बनता है उसका अर्थ किया जाता है-चरित्र,नीति,सदाचार तथा शील।

....

१. ऋक् १/१०/५०६, २/२८/५, २/२८/८

२. वही १०/८/५

३. वही २/१३/७

४. सं. श. कौ. पृ. ६११

५. वही पृ.१७७

वेद को प्रामाण्य रूप में स्वीकार करने वाले उपनिषद् भी सत्य तथा ऋत का उल्लेख करते हैं और इनकी व्यापकता का कथन करते हुए इन्हें नीति एवं आचार के अर्थ में देखते हैं। जैसे कि तैत्तरीय उपनिषद् में निरन्तर ऋत तथा सत्य की उपासना करने के लिए कहा गया है। सत्य की प्रतिष्ठा के संबंध में तो उपनिषद् इतनी पुष्टता से अपना पक्ष रखते हैं कि वे यह कहते हैं कि सत्य ही ब्रह्म है। जो सत्य को ब्रह्म जानकर उपासना करते हैं, वह लोको ं को जीत लेते हैं।[१] सत्य का ही आधार बनाकर मुण्डकोपनिषद् में यह कहा गया है कि जो सत्यवादी होता है,वही विजय प्राप्त करता है। सत्य भाषण से ही देव मार्ग विस्तीर्ण होता है।[२]

इस रूप में सत्य का प्रयोग और सत्य से देव मार्ग का खुलना तथा बाद में सत्य को ही ब्रह्म रूप से ही स्वीकार कर लेना आगे के लिए नैतिक आचार का आधार हो सकता है।[३]

....

१. ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च॥

ई. द्वा. उ. पृ. ८०

२. तद्वैतदेत देव तदास सत्यमेव सयो हैतं महधक्षं प्रथमजं वेद

सत्य ब्रह्मेति जयतीमालोकान् जित इन्वसावसद्य एवमेतं

महधक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म।

वही, पृ.३८८

३.सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अंत: शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा:॥

सत्यमेव जायते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयान:।

येना क्रमन्त्य ऋषयो ह्याप्तकामा यत्रतत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

वही, पृ.६५

नीति के प्रयोग के सम्बन्ध में एक उपनिषद् में जो कहा गया है आचार्य शंकर ने उस पर अपना भाष्य करते हुए यह लिखा है कि इसका प्रयोग नीति शास्त्रवत् है।[१] इसी सन्दर्भ पर अपना विचार व्यक्त करते हुए एक अन्य विद्वान ने यह मत व्यक्त किया है कि 'एकायन' शब्द सम्भवतः तब नीति के लिए था। क्योंकि राजनीति को तब नीति से विलग नहीं किया जा सकता था।[२] उपनिषदें तो नीति को लेकर इतनी अधिक उदार हैं कि वे नीति में दान, दया, सत्य, शौच आदि को सम्मिलित कर लेती हैं।

आचार्य शुक्र ने अपनी प्रसिद्ध नीति वचन में यह कहा है कि नीति समस्त लोक व्यवहार की स्थिति की निर्धारक तत्त्व है। वे यह कहते हैं कि जैसे बिना देह धारण किये भोजन की स्थिति नहीं बनती उसी तरह से बिना नीति के लोक व्यवहार की कल्पना नहीं हो सकती। इसीलिए लोक धर्म का निर्वाहक नीति शास्त्र को माना जाता है।

महाभारत महाकाव्य का परिशीलन करते हुए एक विदुषी ने अपना मत व्यक्त करते हुए यह लिखा है कि इस महाकाव्य में नीति और आचार के लिए शील शब्द का प्रयोग किया गया है।[४] इसके अनुरूप वे कर्म नीतिसंगत हैं जिनसे किसी का भी अहित न होता हो।

....

१ - छान्दो., पृ.७१४ पर शाङ्करभाष्य

२-उ० स. सं. पृ. २४४

३ - शु. नी. क्षा. ३/१/६

४- म. भा. अ. पृ. २४

५- म. भा. शा. प. २४ /६४-६६

भारतीय चिन्तन परम्परा में कुछ अन्य विद्वान भी हैं जो नीति तथा आचार के अर्थ और इनकी व्यापकता के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हैं तथा अपना-अपना अभिमत व्यक्त करते हैं। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द जी ने अपना अभिमत देते हुए लिखा है कि नीति एकता का शास्त्र है और इसका आधार प्रेम है।[१] इसी प्रकार से महर्षि अरविन्द का यह अभिमत है कि नीति सृष्टि के अनेक स्तरों में से एक है। जब तक सृष्टि में विकास प्रक्रिया मानसिक स्तर पर रहेगी तबतक नैतिक नियम भी चलते रहेंगे क्योंकि नीति का स्तर प्रमुख रूप से मानसिक होता है।[२] आचार्य विनोबा भावे ने नीति तथा नैतिकता से सम्बन्धित अपने विचारों में यह स्पष्ट किया है कि सम्पूर्ण समाज के लिए अपना स्वार्थ अर्पण कर देना और समाज के हित के लिए सतत् प्रयत्न करना ही व्यक्ति का परम स्वार्थ है।[३] इस प्रकार की नैतिक विशेषता साम्य योग से ही निर्मित होती है।

डॉ. राधाकृष्णन् यह मानते हैं कि नैतिक सिद्धान्तों का आधार तन्त्र मीमांसा है। वे कहते हैं कि परम सत्ता को हम जैसा समझते हैं वैसा ही आचरण भी करते हैं। इसलिए हमारी दृष्टि और हमारा कर्म साथ-साथ चलते हैं।[४]

अन्य जिन भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने नीति एवं आचार के सम्बन्ध में अपना विचार दिया है उन्होने कहा है कि नीति व्यवहारिक जीवन में मनुष्य के हृदय में स्थित आध्यात्मिक प्रेरणा की अभिव्यक्ति है। सनातन सत्ता और अनुशासन का स्वीकरण तथा उसका पालन सामाजिक नीति है जो व्यक्ति को शुभ कर्मों में नियुक्त करती है।[५]

....

१- सा. नी. स. पृ. १०
२-ला. डि. पृ. ९१-९२
३- साम्ययोग पृ. २१२
४- ई. रे. वे. था. पृ. ७६-८४
५-भा. नी. वि. पृ. ५३

नीति के सन्दर्भ में अन्य स्थल पर एक अन्य विद्वान ने यह लिखा है कि नीति शब्द का अभिप्राय उन नियमों से है जिन पर चलकर मनुष्य ऐहिक, आमुष्मिक और सनातन कल्याण का अधिकारी बनता है।[१] समाज में स्थिरता तथा सन्तुलन रहता है, सामाजिक प्राणियों का सभी प्रकार का अभ्युदय होता है , विश्व में शान्ति स्थापित होती है। अभिप्राय यह है कि नीति का अभिप्राय उस अवधारणा से है जिसके पालन से व्यक्ति और समाज का समान रूप से कल्याण होता है।[२]

भारत से इतर देशों के पाश्चात्य विद्वान भी नीति के सम्बन्ध में अपना विचार रखते हैं और अपना मत व्यक्त करते हैं। उनमें से सिजविक, मैकेञ्जी तथा रैसडल ने नीति शास्त्र के सम्बन्ध में जो कहा है उसमें नियमित मानवीय आचरण, मानवीय जीवन में उपस्थित आदर्श एवं जीवन में शुभ - अशुभ के सिद्धान्तों को नीति माना गया है।[३]

एडवर्ड केयर्ड ने यह लिखा है कि नैतिकता और धर्म मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और परम सत्ता के सम्बन्ध को प्रतिपादित करते हैं और इस तरह सभी विद्वान नीति का सम्बन्ध मनुष्य के शुभ से जोड़ते हैं।

....

१ - भा. नी. इ. पृ. ६१२

२ - भा. नी. पृ. १-२ से उदधृत

३ - नी. द. का आमुख

आचार के सम्बन्ध में विचार करने पर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके अर्थ के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किए हैं। जैसे कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों और ऋषियों में वशिष्ठ धर्म सूत्र में सदाचार को मनुष्य का व्यक्तित्व और चरित्र कहा गया है।[१] इसी तरह से रीति-रिवाज को भी सदाचार के रूप में मान्यता प्राप्त थी। आचार्य बृहस्पति ने लिखा है कि जो रीति - रिवाज सामान्यत: धर्म विरूद्ध भी दिखते थे, वे भी कहीं-कहीं मान्य होते थे।[२] महर्षि मनु ने मनुस्मृति में आचार शब्द के विषय में अपना अभिप्राय देते हुए लिखा है कि वेद और स्मृतियों में जो धर्म मूलक कर्म कहे गए हैं, वही आचार हैं। इस प्रकार के आचारों का पालन आलस्य रहित होकर करना चाहिए।

महाभारत में आचार के लिए शिष्टाचार शब्द का प्रयोग करते हुए उसे ब्राह्मण के लिए कहा गया है और उसमें यह कथन किया गया है कि यह शिष्टों का भी विशेष आचार है। इसमें यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय,सत्य,आधृत होते हैं।[३] इन्हीं के समन्वित स्वरूप को शिष्टाचार कहा जाता है और इसका आचरण करना ही शिष्टाचार है।

....

१- व. ध. पृष्ठ ११५

२- व्या. स्मृ. २/२५/३१

३- यज्ञोदानं तपो वेदा: सत्यं च द्विजसत्तम।

पंचैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा॥

म. भा. वन. पर्व १९८/५७

इन भारतीय ऋषियों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे विदेशी तथा भारतीय विचारक और भी हैं, जो आचार शब्द की व्युत्पत्ति अपने-अपने ढंग से करते हैं। एक विदेशी विद्वान का कहना है कि आचार शब्द में मनुष्य की आदतें , उसके रीति-रिवाज तथा उसके चरित्र को ग्रहण किया जा सकता है।[१] एक अन्य विद्वान यह कहते हैं कि उचित और अनुचित की जो दृष्टि मनुष्य के जीवन में होती है, वह आचार मूलक ही होती है।[२] अर्थात् आचार के माध्यम से उचित और अनुचित का विवेक करना सहज संभव होता है। एक और भारतीय विचारक यह कहते हैं कि आचार शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो सर्वोच्च शुभ के विचार को स्पष्ट करता है।[३] अर्थात् इससे शुभ का निर्माण जीवन में होता है। इसमें विविध प्रकार से मापदण्ड के आधार पर मानव आचरण का मूल्याङ्कन किया जाता है। इस रूप में इनके कथन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि आचार से अभिप्राय उस सर्वोच्च शुभ से है ,जो मनुष्य के आचरण का मूल है। इसी प्रकार से एक अन्य विद्वान यह लिखते हैं कि आचरण का आधार चरित्र है इसलिए आचार शास्त्र को चरित्र विज्ञान भी कहा जाता है।

....

१- मै. ए. पृ. १

२-ए. मै. ए. पृ.२

३- प्रा. आ. पृ.३

(ख) नीति एवम् आचार का सीमित और व्यापक स्वरूप :

नीति एवं आचार के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि यदि नीति का सम्बन्ध व्यक्ति परक है तो नीति वैयक्तिक है और उसकी सीमित व्याख्या ही की जा सकती है। और यदि नीति का सम्बन्ध समाजगत है तो उसका अर्थ व्यापक रूप से किया जा सकता है क्योंकि सामाजिक सन्दर्भ में ऐसा करना ही स्वाभाविक है। आचार के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है क्योंकि यदि आचार किसी व्यक्ति के आचरण तक सीमित है तो उसका स्वरूप व्यक्तिगत होगा और यदि उसका स्वरूप समाजगत होगा तो उसकी व्यापकता बढ़ जाएगी।

इस सन्दर्भ में नीति और आचार के प्रामाणिक संकेत के रूप में जब ऋत और सत् की चर्चा की जाती है तो यह कहा जाता है कि सत् जो सत्य का ही एक रूप है व्यक्ति के लिए वैयक्तिक रूप से और समाज के लिए सामाजिक रूप से स्वीकार किया गया है। महाभारत के रचनाकार वेद व्यास भी यह कहते है कि सत्य ही धर्म,तप ,योग ,यश और ब्रह्म के रूप में स्वीकार्य है [१]और सत्य ही प्रजा की उत्पत्ति में हेतु है। वही स्वर्ग और लोक को धारण करता है।[२]

....

१ . सत्यं धर्मस्तथा योग: सत्यं ब्रह्म सनातनम्।

सत्यं यज्ञ: पर: प्रोक्त: सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

२.सत्यं ब्रह्म तप: सत्यं सत्यं सृजति च प्रजा:।

सत्येन धार्यते लोक: स्वर्गं सत्येन गच्छति॥

म. मा. शा. प. ५६/५,८३/१

सत्य की प्रारम्भिक प्रतिष्ठा ने व्यक्ति के अर्थ में उसे एक आधार दिया जिससे वह अपने सीमित क्षेत्र में तो प्रतिष्ठित हुआ ही साथ ही जब उसने इस सत्य की नीति को , जो व्यक्ति को शुभ की ओर ले जाने वाली थी ,आचरण मे उतारा तो वह नीति आचार का ऐसा स्वरूप बन सकी जिसका प्रमाण वैयक्तिक होता हुआ भी व्यापक और सामाजिक हो सकता है। यही कारण है कि सत्य व्यक्ति के स्तर पर तो व्यक्तिपरक है किन्तु सामाजिक स्तर पर वह समाज परक भी है।

इस कथ्य को इस रूप में समझा जा सकता है। जिस रूप में सत्यकाम जाबालि ने अपने व्यक्ति रूप में उसे स्वीकार किया और फिर उसे सामाजिक रूप से प्रस्तुत किया। वह वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर आचार का अच्छा उदाहरण बन सका। सत्य काम जाबालि शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु आश्रम गया। वहाँ उससे उसके पिता का परिचय जानने का प्रयास किया गया। इस पर उसने आचार्य से कहा कि वह अपनी माता से पूछकर इसका उत्तर देगा। तब वह जानकारी करने के लिए अपनी माता के पास गया। उसकी माता ने उसे सत्य का ज्ञान कराते हुए कहा कि उसे उसने ऋषियों की सेवा करते हुए पाया है। इसलिए वह यह नहीं जानती कि उसके पिता का नाम क्या है? यही कारण है कि उसकी माता ने जाबालि से कहा कि मैं यह नही बता सकती कि तू किस गोत्र वाला है? तू जाकर यही स्थिति अपने आचार्य को कह दे क्योंकि यही सत्य है।

जाबालि माता से इस प्रकार की जानकारी प्राप्त करके पुन: आचार्य के आश्रम में वापस आ गया और उसने आचार्य गौतम के सामने सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार लिया कि उसके गोत्र का ज्ञान उसकी माता को नहीं है।[१] यह एक ऐसा आचार है जो जाबालि के स्तर पर व्यक्तिगत होता है। सार्वजनिक रूप से आचार्य के सामने स्वीकार किया जाने पर सामाजिक आचार बन गया, क्योंकि सत्यकाम द्वारा ऐसी स्वीकारोक्ति किए जाने पर उसके आचार्य ने कहा था कि तेरे जैसे सत्यवादी को ब्राह्मण से इतर माना ही नहीं जा सकता है क्योंकि ब्राह्मण ही ऐसा सत्य कह सकता है [२] और ऐसा कह करके आचार्य ने उसे समिधा लाने का आदेश दे दिया तथा कहा कि मैं तेरा उपनयन संस्कार उसी भांति करूँगा जिस भांति ब्राह्मण का उपनयन संस्कार किया जाता है क्योंकि तूने अभी तक सत्य का परित्याग नहीं किया है। बाद में उन्होंने सत्यकाम को सेवा करने के लिए गौएँ भी प्रदान कीं जिनकी सेवा सत्यकाम जाबालि ने बहुत समय तक की।

....

१. सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद् गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वांलभे साहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि जाबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो बुबींथा इति।

ई. द्वा उ. पृ. १७४

२.तं होवाच नैतद् ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोप त्वानेष्येन सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतु:शता गा निराकृत्योवाचेमा: सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाचनासहस्रेणावर्तेयेति सह वर्ष गणं प्रोवास ता यदा सहस्त्रं संवेदु:। वही, पृ. १७५

ऋत और सत्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए एक नीतिकार ने कहा है कि जब नीति समष्टि में व्याप्त रहती है , तब वह ऋत की संज्ञा से अभिहित होती है किन्तु जब वह तप के संग से विशिष्ट रूप में व्यक्त होती है, तब उसे सत्य के रूप में जाना जाता है और सत्य के व्यवहार के रूप में प्रयोग में लाया जाता है।[१]

नीति के सम्बन्ध में और उसके आचारात्मक रूप पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि नीति,धर्म और दर्शन परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। नीति धर्म और दर्शन को एक दूसरे से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता है।[२]

महर्षि मनु और व्यास ने धर्म के जिस रूप की व्याख्या की है उसके अनुसार यह कहा है कि वेद, स्मृतियों को जानने वालों की स्मृति ,श्रेष्ठ जनों का आचार तथा आत्म तुष्टि यही धर्म के मूल हैं।[३] इस कथन की विस्तृत व्याख्या कर यह भी कहा गया है कि वेद सत्य के रूप में उसकी प्रतिष्ठा कर सत्य नीति की स्थापना करते हैं। श्रेष्ठ जनों का जो आचार है वह मनुष्य के जीवन में व्यवहारिक धर्म का संकेत करता है और आत्म-तुष्टि भी श्रेष्ठ जनों का ऐसा व्यवहार है जो उनके द्वारा किए गए श्रेष्ठ कर्मो से ही प्राप्त होता है। श्रेष्ठ जनों की आत्म-तुष्टि केवल एक व्यक्ति की ही आत्म-तुष्टि नहीं अपितु सामाजिक आत्म-तुष्टि कही जा सकती है,क्योंकि वह श्रेष्ठ आचार पर आधारित होती है ,और इससे समष्टि का अर्थ प्रकट होता है।

....

१-भा. नि. वि. पृ.३९

२-वही, पृ. १८

३-वेदोऽखिलं धर्म मूलं स्मृति शीले च तद्विदाम्

आचारश्चैव साधूनां आत्मनस्तुष्टिरेव च ॥

म. स्मृ.२/६,म.भा. वनपर्व

४-भा. नी. वि. पृ. ४६

एक स्थान पर यह कहा गया है कि आर्य जन जिसकी प्रशंसा करते हैं,वह धर्म है और वे जिसकी निन्दा करते हैं, वह अधर्म है।[१]इस कथन का अभिप्राय यह है कि धर्म के जो अंग हैं सभी उसका पालन करें और अधर्म की ओर आकर्षित न होवें। मनुष्य के जिन दुर्गुणों का कथन किया गया है जैसे कि ईर्ष्या, निन्दा, अभिमान, कुटिलता,लोभ, मोह, क्रोध ,द्रोह से वह दूर रहे क्योंकि इसका आश्रय उसे पतन का हेतु बनाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के उस लक्ष्य की ओर बढ़े,जो सर्वोच्च लक्ष्य है और इसी की प्राप्ति का उद्देश्य वह अपने लिए बनावें।[२]

इस कथन के संदर्भ में यह कहना संगत होगा कि इन गुणों का पालन व्यक्ति जब करता है तो वह वैयक्तिक आचार के रूप में मान्य हो सकता है किन्तु मनुष्य के गुण जब व्यापक आधार वाले होते हैं और पूरा का पूरा समाज जब इन गुणों की ओर आकर्षित होता है तब वे एक विशेष सामाजिक आचार के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

इसी प्रकार से यदि हमें उपनिषद् कालीन नीति और आचार के व्यापक तथा सीमित सन्दर्भ को समझना है ,तो उपनिषद् विचार धारा के लक्ष्य को जानना आवश्यक होगा। उपनिषद् परम्परा प्रेम के साथ श्रेय का कथन करती है और उस परम्परा का संकेत यह है कि प्रेम की प्राप्ति जीवन में अभिप्रेत हो सकती है किन्तु श्रेयस् की प्राप्ति के बिना जीवन का परम लक्ष्य नहीं पाया जा सकता है।

....

१.आ. सू. १/२०/६

२. व. ध. सू. १०/३८,३०/१

यही कारण है कि उपनिषद् यह कहती है कि जो विवेकी पुरूष है वे अपने जीवन में प्रेम की अपेक्षा श्रेय प्राप्ति की ओर ही अभिमुख होते हैं , और श्रेयस की प्राप्ति को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं ।[१] श्रेयस् की उपलब्धि के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि पुरुष अपने जीवन में श्रेयस् की प्राप्ति करता हुआ आत्मज्ञान प्राप्त करे और सदा यह भाव रखे कि इस संसार में जो कुछ भी है वह ईश्वर ही है और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ।[२]

उपनिषद् की विचार धारा का यह स्पष्ट संकेत है कि आत्मा और ईश्वर अन्य कुछ भी नहीं है, वह केवल सत्-सत् स्वरूप है सत् के अतिरिक्त इस संसार में कुछ भी नहीं है। सत् ही जगत है और सत् ही ईश्वर है यही उपनिषद् की रीति है। यही सत् सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है ।[३]

वैदिक वाङ्मय में जिस सत् की स्थापना की गई है , उपनिषदें उसी सत् को व्यापक आधार बनाकर उसे जगत में समाहित कहकर एक ऐसे नीति के कारक के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं , जो उस परम्परा की एक सत् नीति बन जाती है और व्यक्ति के आचरण में आने पर वह आचार के रूप में जानी जाती है।

....

१- ई. द्वा.उ. पृ.१८-१९

२- वही पृ.१

३- वही पृ. ३८९

उपनिषद् परम्परा के आचार्य जब ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आदि के लिए आचार का उपदेश करते हैं तब वे कहते हैं कि सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो , आचार्य के लिए इष्ट धन लाकर उनकी विद्या से ऋणमुक्त हो जाओ। सत्य से प्रमाद मत करो ,धर्म से प्रमाद मत करो ,कुशलता से प्रमाद मत करो ,प्राणियों के प्रति प्रमाद मत करो। माता के प्रति देवभाव रखो और आचार्य के प्रति देवभाव वाले बनो।[१]

इस प्रकार से यह एक ऐसा आचरण गुण समूह है जो किसी भी आश्रम में निवास करने वाले व्यक्ति के लिए वैयक्तिक रूप से पालनीय होने के कारण व्यक्तिगत है किन्तु समाजगत होने के कारण समाजगत भी है और समाजगत होने से व्यापक अर्थवाला है।

....

१ .सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी :।
सत्यान्न प्रमदितव्यं। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।

ई. द्वा. उ. पृ. ८१-८२

(ग) नीति एवं आचार के वैयक्तिक तथा सामाजिक सन्दर्भ

वैदिक परम्परा के प्रारम्भ से ही हम एक ऐसे भाव का स्वरूप देखने का प्रयत्न कर सकते हैं , जिसमें ऋषि व्यक्तिगत रूप से यह चाहता है कि वह आनन्द से अपना पूरा जीवन जिए और इसी के साथ समाज भी सुख और आनन्द की प्राप्ति में अग्रसर बना रहे। यही कारण है कि सर्व प्रथम यह कल्पना की गई कि कर्म करते हुए हम सौ वर्ष तक जीवन धारण करें तथा हमारे अंदर जो अज्ञान है वह विनाश को प्राप्त होवे तथा हम अपने द्वारा इच्छित वस्तु प्राप्त कर सकें।[१] ऋषि प्राकृतिक शक्तियों में उनकी अप्रतिम शक्तिमत्ता के कारण उनमें देवत्व का अनुभव कर यह अपेक्षा करते थे कि ये देवता हमें शक्ति सम्पन्न बनावें और हमारे कल्याण के लिए हमें सहयोग देवें। वायु जो देव रूप में स्वीकृत है और जिसकी शक्ति अप्रतिम है, उससे प्रार्थना करता हुआ एक ऋषि कहता है कि वह हमें कल्याण प्रदान करे तथा हमें दीर्घायु बनावें।[२] इसीप्रकार के एक भाव को यजुर्वेद में देखा जा सकता है, जिसमें एक ऋषि ने अपने उपास्य से यह प्रार्थना की कि वह उसे कल्याण का भाजन और ओजस्वी बनाए।[३] तब ऋषि की यह कामना थी कि वह यशस्वी बनकर निर्भयता से अपना जीवन जिए।[४]

....

१.यजु , १०/२, २०/२१

२.ऋक् , १०/१८६/१

३.यजु, १९/९

४.वही, १९/२३

इस प्रकार की भावना के साथ यद्यपि यह जुड़ा था कि तब व्यक्ति अपने लिए कल्याण और शुभ की कामना कर रहा था किन्तु साथ ही साथ वह यह चाहता था कि इस मेरे शुभ के साथ इतर जनों का भी शुभ हो तब उसका व्यवहार और विचार वैयक्तिक तथा सामाजिक स्तर पर विविध रूप में दिखाई देता था। इसी भाव के विकास के फलस्वरूप ही यह कहा गया था कि हम सब एक साथ चलें , एक साथ बोलें और सभी एक जैसी मनोवृत्ति से रहें।[१]

सम्भव है कि तब की इसी मानवीय मनोवृत्ति के अनुरूप ही वेद में ऋत के साथ सत्य जैसे नैतिक प्रत्यय की उद्भावना हुई और उसे व्यक्ति की शुचिता का तथा समाज की शुचिता का परम हेतु मानकर वैयक्तिक नीति तथा सामाजिक नीति को सुदृढ़ आधार दिया गया। यह एक ऐसी परम्परा है जो भाव स्तर पर उद्भूत होने के बाद व्यक्ति के जीवन की नैतिकता बनी और यही व्यक्ति माध्यम से समाज की श्रेष्ठता की मापदण्ड हुई। यह नीति ही वैयक्तिक स्तर पर व्यक्ति नीति और सामाजिक स्तर पर समाज नीति कही जा सकती है , जो व्यक्ति और समाज को श्रेष्ठता का आधार देती है।

....

१.ऋक् १०/१२८/१

उपनिषद् परम्परा में व्यक्ति को उसके परम आनन्द के लिए प्रेरित किया गया है। उस परम्परा में वहाँ यह कहा गया है कि प्रेय और श्रेय दोनो पृथक्-पृथक् हैं। जो प्रेय है वह श्रेय से भिन्न है कठोपनिषद् में इसी दृष्टि से श्रेय और प्रेय की भिन्नता का कथन है। यद्यपि ये दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजन वाले हैं ,तथापि अपने-अपने आकर्षण में पुरुष को बांधते हैं। फिर यह कहा गया कि प्रेय और श्रेय में से जो श्रेय को प्राप्त करता है वह शुभ की प्राप्ति करता है[१] किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उपनिषदें वेदकालिक सत्य का अनुपालन नहीं करती तथा व्यक्ति के आचार मूलक कर्म का खण्डन करती हैं। ऋत और सत्य को परम श्रेय मानकर ही उपनिषदें यह कहती हैं कि ऋत और सत्य स्वाध्याय तथा प्रवचन के द्वारा ही अनुष्ठेय हैं।[२]

उपनिषद् में एक स्थान पर यह कहा गया है कि सत्यवादी ही विजय प्राप्त करता है। मृषावादी कभी भी सत्य का अधिकारी नहीं हो सकता। सत्य भाषण से देवमार्ग विस्तीर्ण होता है। यह वही मार्ग है जिस पर चलकर ऋषिगण वह पद प्राप्त करते हैं जहाँ सत्य का परम विधान विद्यमान है।[३]

....

१. अन्य श्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष : सिनीत :।

तयो: श्रेय: आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थत: प्रेयो वृणीते ॥

क. उ.पृ. ३

२. ई. द्वा. उ. पृ. ०

३.सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विद्यते देवयान :।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्यास कर्मां यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥

वही , पृ. ६

उपनिषदें आत्मचिंतन के क्रम को और आगे बढ़ाती हुई भी व्यक्ति के आचारात्मक उपदेश को स्पष्ट करती हैं और तब ऐसी अवस्था में धर्म का आख्यान करती हुई कहती हैं कि यज्ञ,अध्ययन और दान ऐसे कर्म हैं [१], जो व्यक्ति के लिए आचार के रूप में पालनीय हैं और इसीलिए ये वैयक्तिक आचार के रूप में उदाहरणीय कहे जा सकते हैं। जब व्यक्ति अपने लिए निर्धारित इन आचारों को अथवा मान्य नैतिकताओं को धारण करता है तो वह व्यक्ति रूप में आचार अथवा नीति का पालन कर रहा होता है। इस प्रकार के आचार का पालन करने से तथा ऐसी नीति पर चलने से निश्चित ही व्यक्ति अपने जीवन का भौतिक कल्याण पाता है किन्तु साथ-साथ वह आचार का पालन करते हुए जीवन के उस श्रेय को भी पा लेता है, जिसे मनुष्य-जीवन का चरम पुरुषार्थ अथवा मोक्ष कहा जाता है[२]।

....

१.त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम स्त एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्य कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य कुलेऽवसादयन्सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति।

छा.२/२३/१

२.म. शा. अ. पृ. २

यज्ञ, अध्ययन, दान , अतिथिसेवा , अहिंसा ,कर्मरति, शौर्य, संतोष,यम-नियम आदि जितने भी नियम व्यक्ति के लिए पालन करने योग्य थे और जिनका कथन नीति के रूप में किया जा सकता है वे सभी सांसारिक लाभ देने के साथ-साथ व्यक्ति को श्रेय की ओर भी बढ़ाते थे। इसका कारण यह था कि इनका कथन वे आचार्य करते थे जिन्होंने अपने जीवन में वैयक्तिक रूप से इनका पालन किया होता था और जो नीति तथा आचार के रूप में परम पुष्ट होते थे।

आचार का पालन करना सभी के जीवन में कितना महत्त्वपूर्ण था, इसका संकेत इस रूप में मिल जाता है कि जब तत्कालीन आचार्य समावर्तन काल में शिष्य को अंतिम रूप से उपदेशित करते हुए कहता था कि तुम धर्म का आचरण करो ,सत्य बोलो , स्वाध्याय से प्रमाद न करो , प्रजातन्तु में व्यवच्छेद न आने दो , अतिथि का सत्कार करो एवं जो भी हमारे सुचरित हो,उनका आचरण करो[१]।

....

१ - सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।

कुशलान्न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यम्। मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।

ई. द्वा. उ. पृ. ८१-८२

प्राचीन भारत में वैयक्तिक नीति के साथ साथ वर्ण और आश्रमगत जिन नीतियों और आचारों का आख्यान किया गया है उनका उद्देश्य सामाजिक रूप से नीति और आचार की स्थापना करना हो सकता है। तब वर्ण और आश्रम की व्यवस्था ऐसी थी जिससे व्यक्ति के सम्बन्ध में तथा समूहगत समाज के संदर्भ में नीति तथा आचार का विश्लेषण होता था। यही कारण है कि वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए एक आचार्य उससे 'वरण' करने का अभिप्राय व्यक्त करते हैं क्योंकि वर्णगत व्यक्ति अपने लिए वृत्ति अथवा व्यवसाय का वरण करता था इसलिए वह किसी एक वर्ण का कहा जाता था। इससे वर्ण भेद का अभिप्राय भी सिद्ध किया जा सकता है। यद्यपि एक आचार्य का यह मत है कि तब सभी वर्णों के लोग सभी वर्णों में सन्तान उत्पन्न करते थे इसलिए तत्त्वदर्शी समाज दृष्टा को महत्त्व देते थे[१]। इसमें यह कहना संगत हो सकता है कि प्रत्येक वर्ण के लिए जो निर्धारित कर्म तब हुआ करते थे ,वे उस वर्ण के लिए ही नहीं अपितु समाज के सन्दर्भ में भी नीति निर्देश दिया करते थे।

....

१ . भा. नी. वि., पृ. २ - २६

इसी प्रकार से जब आश्रम व्यवस्था का उल्लेख किया जाता है तब यह कहा जाता है कि इसका अभिप्राय सामाजिक श्रम से है। सभी सामाजिक अपने-अपने आश्रम में रहकर आश्रम धर्म का पालन करते हुए श्रम करते थे इसलिए इस व्यवस्था ने भी सामाजिक नीति को आधार दिया होगा और यही नीति सामाजिकों के लिए आचार के रूप में भी प्रतिष्ठापित हुई होगी।

एक विद्वान इस सम्बन्ध में यह कहते हैं कि वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जो मनुष्य की सम्पूर्ण प्रवृत्ति को व्यक्त करती हैं। वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था ही ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जो मनुष्य की मनुष्यता और पशु की पशुता में भिन्नता प्रकट करती हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था मानव प्रकृति है और आश्रम व्यवस्था मानव संस्कृति है[१]।

इस रूप में वर्ण और आश्रम की व्यवस्था को जहाँ हम प्राचीन समाज में एक व्यवस्था के रूप में देख सकते हैं वहीं वर्ण के माध्यम से एक ऐसी व्यवस्था का संकेत पाते हैं, जहाँ नीति और आचार के रूप में प्रत्येक वर्ण अपने लिए कर्म का अथवा व्यवसाय का वरण करता था। इसमें यह नहीं कहा जा सकता कि किस वर्ण का कौन सा व्यवसाय अथवा वृत्ति थी,अपितु यह कहना अधिक संगत है कि सभी वर्णों की वृत्ति अथवा व्यवसाय उसके लिए श्रेष्ठ नीति और आचार थे।

....

१- भा. नी. वि. पृ. १२५-१२६

श्रीमद्भगवद् गीता गुण और कर्म के आधार पर चार वर्णों की उत्पत्ति मानती है।[१] उसी प्रकार से आश्रम और आश्रमीय कर्मों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि श्रेय की कामना वाले जहाँ पहुँचकर श्रम से मुक्त हो जाते हैं , वह आश्रम कहा जाता है। एक दूसरी परिभाषा आश्रम के सम्बन्ध में यह है कि , जहाँ पहुँचकर सम्पूर्ण श्रम किया जाए, वह आश्रम कहा जाता है। अथवा यह कहा जाता है कि आश्रम जीवन की वह स्थिति है, जिसमें कर्तव्य पालन के लिए पूर्ण श्रम किया जाए।[२]

इस रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन समय में जो वर्णाश्रम व्यवस्था थी वह वैयक्तिक रीति-नीति और आचार का स्वरूप स्थिर करती हुई भी सामाजिक स्वरूप में उसे व्यापक आधार देती थी। तब वर्णों के लिए और आश्रमों के लिए जहाँ व्यक्ति स्तर पर नीति और आचार का कथन था और जिसके आधार पर वैयक्तिक नीति परिभाषित होती थी, उसी रूप में सामाजिक स्तर पर भी वर्णों और आश्रमों की नीति तथा आचार का निर्धारण होता था। इसलिए वर्ण-आश्रम में पालनीय नीति तथा आचार जहाँ एक ओर व्यक्ति के श्रेय साधक थे, वहीं दूसरी ओर समाजगत दृष्टि से भी वे सामाजिक श्रेय के साधक भी थे।[३]

....

१- भ. गी. ४/१३

२- हि. वि. १,पृ. ४२७

३- कौ. अ. भू. पृ. ४३

(घ) धर्म एवं नीति

धारणाद् धर्ममित्याहु: धर्मो धारयते प्रजा: का कथन बहु प्रचारित कथन है,जिसका अभिप्राय है कि धारण करने से धर्म की संज्ञा सार्थक होती है , अर्थात् जिसे व्यक्ति-हित और समाज-हित में धारण किया जाता है , वह धर्म है। यही धर्म प्रजा को धारण करता है। महाभारत में एक इस प्रकार का कथन है , जिसमें यह कहा गया है कि प्रारम्भ में न राजा था न दण्ड था। समय के साथ मनुष्यों में काम, क्रोध, लोभ और मोह ने प्रवेश कर लिया। धर्म का विधान न हो, इसलिए ब्रह्मा ने धर्म , अर्थ और काम पर आधारित एक लाख अध्यायों का एक ग्रन्थ लिखा, जिसका संक्षेप होते होते एक हजार अध्यायों में रह गया। इसे शुक्राचार्य ने संक्षेप कर शुक्र नीति का नाम दिया।[१]

आहार, निद्रा, भय और मैथुन की समानता पशु तथा मनुष्य में दिखाई दिए जाने से भी यह कहा गया है कि मनुष्य में धर्म ही एक ऐसा साधन है जो उसे मनुष्य बनाता है और पशु भाव से उसे पृथक् करता है।[२] यदि मनुष्य में धर्म की धारणा न हो तो फिर मनुष्य में और पशु में किसी भी प्रकार का पार्थक्य नहीं रह जाएगा।

इसी दृष्टि से प्राचीन समय में ही नहीं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी धर्म को किसी ने भी पूरी तरह से अनाहत नहीं किया है।

....

१- म. भा. शा. २९/१९

२- वही, शा.२९४/२९

बोधायन धर्म सूत्र में धर्म का आख्यान करते हुए उसे तीन रूपों में कहा गया है, जिसका स्वरूप श्रौत, स्मार्त तथा शिष्टाचार के रूप में वर्णित है। इनमें श्रौत धर्म के लिए यह कहा गया है कि यह वेदों में विविध यज्ञ-यागादि के रूप में प्रकाशित है , स्मार्त धर्म स्मृतियो में कहा गया है और यह वर्णाश्रम के रूप में ख्यात है। शिष्टाचार धर्म का वह स्वरूप है जो सामान्य धर्म है और जिसका कथन विविध स्थानों साधारण धर्म के रूप में है।[१]

उपनिषद् परम्परा का धर्म स्वरूप जानने के लिये यह उद्धृत करना उचित होगा जिसमें यह कहा गया है कि धर्म के तीन स्कन्ध हैं - यज्ञ, अध्ययन और दान।

यज्ञ धर्म का प्रथम स्कन्ध है। तप धर्म का दूसरा स्कन्ध है। ब्रह्मचारी का अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण करके आचार्य कुल में रहना तीसरा धर्म स्कन्ध है। इस सन्दर्भ में पूज्यपाद शंकराचार्य जी का यह संकेत है कि प्रथम धर्म स्कन्ध ब्रह्मचारी के लिए है, द्वितीय चान्द्रायण व्रत आदि तपरूप गृहस्थ के लिये है तथा तृतीय धर्म स्कन्ध वानप्रस्थवासी के लिए हो सकता है। और जिस चतुर्थ स्कन्ध का कथन नहीं किया गया है , वह परिव्राजक का धर्म है जो ब्रह्म में स्थित होकर अमृत लोक की प्राप्ति करता है।[२] एक प्रकार से उपनिषद् का यह संकेत आश्रम धर्म का भी संकेत है।

....

ड१-बौ.ध.सू.पृ.५८

२-छा.उ.पृ. २ से २७ तक शांकर भाष्य

आचार्य मनु जब धर्म का व्याख्यान करते हैं तो वे यह कहते हैं कि धृति, क्षमा , दान, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीरता, विद्या, सत्य और अक्रोध जैसे सद्गुण ही मनुष्य के धर्म हैं।[1] अर्थात् मनुष्य में उसके जीवन के जो सर्वश्रेष्ठ सद्गुण हैं उनका समूह ही एक ऐसा धर्म है जो धर्म का श्रेष्ठतम रूप है। यही कारण है कि महर्षि मनु यह कहते हैं कि वह धर्म त्याग देने योग्य है जिससे लोक को कष्ट होता है।[2] यहाँ यह देखा जा सकता है कि महाराज मनु का यह कथन नीति के सर्वथा अनुकूल इसलिए बैठता है क्योंकि नीति भी उसी मानवीय मूल्य का नाम है, जो लोक हितकारी होवे।

महर्षि व्यास ने अनेकों स्थानों पर धर्म की व्याख्या दी है और धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी किया है। उन्होंने एक स्थान पर यह लिखा है कि मनुष्य के द्वारा अनेकों तीर्थों में स्नान करके शुद्ध और सात्विक जीवन पाना सुन्दर तो है किन्तु उसकी अपेक्षा यह अधिक सुन्दर है कि व्यक्ति सभी मनुष्यों के प्रति अकुटिल भाव वाला बना रहे। अर्थात् वह किसी के प्रति कुटिलता का भाव मन में न लावे। उनकी दृष्टि में यह परम धर्म है। यदि इस कथन को देखा जाए तो यह प्रतीत होगा कि महाभारत का यह सन्दर्भ भी नीति के परिप्रेक्ष्य में उसके समीप ठहरता है।

....

१-धृति क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

म.स्मृ. / २, या. स्मृ. / २

२-म. भा. उद्योगपर्व ३ /२

नीति शब्द का व्याकरण के आधार पर जो अर्थ निकलता है, वह होता है, ले जाने वाला। नी धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर नीति शब्द निष्पन्न हुआ है। इसको एक स्थान पर इस प्रकार से कहा गया है - नीयन्ते संलभ्यन्ते उपायादय: ऐहिकामुष्मिकाभ्यां वा अन्या इति नीति:।[1] इसका अभिप्राय यह है कि नीति वह है जिसका अभिप्राय वैयक्तिक नीति-प्रत्ययों और अभिप्रायों से लिया जा सकता है, जिनके द्वारा ऐहिक और पारमार्थिक अर्थ सिद्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त भी नीति का जिस रूप में कथन किया जाता है उसमें कहा जाता है कि नीति दर्शन का वह पक्ष है, जिसमें मानवीय व्यवहार का मूल्यात्मक विवेचन किया जाता है। इस प्रकार के विवेचन में औचित्य तथा अनौचित्य का विचार मुख्य रूप से होता है।

इस प्रकार से नीति का जो स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रकट होकर आता है उसके अनुसार यह कहना संगत हो सकता है कि मानवीय व्यवहार में क्या करना औचित्य पूर्ण है और क्या करना अनौचित्य पूर्ण है, यह नीतिगत विचार होता है। इसी विचार के आधार पर नीति और अनीति का कथन किया जाता है। धर्म भी धारण स्वभावी होने के कारण करणीय और अकरणीय का भेद करता ही है। इसलिए धर्म भी वही कहता है जो नीति कहती है। तब यह कहना तर्क संगत हो सकता है कि प्रकट रूप में धर्म और नीति का पार्थक्य दिखाई देने पर भी दोनों में बहुत बड़ा अन्तर नहीं किया जा सकता।

....

१-सं. श. कौ. पृ. ६२८

(ङ) धर्म एवम् आचार

आङ् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से घञ् प्रत्यय का योग करने पर जो आचार शब्द बनता है, उसका अभिप्राय होता है -चरित्र, नीति, सदाचार, तथा शील से [१]। इसी तरह से मनु स्मृतिकार जो कहते हैं उसके आधार पर यह विवेचित है कि वेद और स्मृतियों में जो धर्ममूलक कर्म हैं वे ही सदाचार हैं। उनका पालन व्यक्ति को आलस्य रहित होकर करना चाहिए[२]।

इस रूप में यदि धर्म और आचार को मिला कर देखा जाए तो इसमें भी बहुत बड़ी भिन्नता दिखाई देती है। यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस् सिद्धि: स धर्म: की भावना का अर्थ यह है कि जिससे व्यक्ति के जीवन का अभ्युदय हो और बाद में पारलौकिक जीवन मे श्रेय की प्राप्ति हो, वह धर्म है। इस भाव से भी यही कहना संगत है कि आचार भी वही प्राप्ति कराता है, जिससे व्यक्ति का लौकिक और पारलौकिक जीवन सार्थक होता है। इस रूप में यह अवश्य इंगित किया जा सकता है कि धर्म व्यक्ति के मनोभाव को प्रभावित करता हुआ उसे आचरण में शुद्धता देता है जबकि आचार बाह्य होता हुआ भी व्यक्ति की अन्त: शुद्धि का हेतु बनता है।

इस रूप में दोनों ही परस्परापेक्ष कहे जा सकते हैं।

....

१-सं. श. कौ. पृ. ६११

२-श्रुति स्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेसु कर्मेषु।

धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥

म. स्मृ. ४/१५५

द्वितीय अध्याय

(पुराण परम्परा एवम् श्रीमद् भागवत)

(क) पुराण शब्द का अर्थ

(ख)पुराण संरचना की पृष्ठभूमि, समय एवम् रचयिता

(ग) पुराण वर्गीकरण तथा वर्णित विषयों का संकेत

(घ) श्रीमद् भागवत का सामान्य परिचय

अध्याय

संस्करण

श्लोक संख्या

रचयिता एवम् रचनाकार

(ङ) श्रीमद् भागवत में अभिव्यक्त विभिन्न नीतियाँ तथा

आचार

द्वितीय अध्याय

।। पुराण परम्परा एवम् श्रीमद्भागवत ।।

(क) - **पुराण शब्द का अर्थ** :- पुराण शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण शास्त्र में जिस रूप में की जाती है उसके अनुसार पुरा पूर्वक णीप्राणे धातु से ड् प्रत्यय करने के बाद टि लोप और णत्व कार्य करने पर पुराण निष्पन्न होता है। अथवा यह व्युत्पत्ति भी की गई है जिसमें कहा गया है कि ''पुराभावः'' इति। इस अर्थ में पुरा अव्यय से ''सायंचिरं प्राह्णेप्रगेऽव्ययभ्यष्ट्यु ट्युलौ तुट्यः'' सूत्र से ट्यु प्रत्यय होने पर टकार की इत संज्ञा और लोप होने पर युवोरनाकौ से ''यु'' का ''अन्'' तथा अट् कुप्वाङ् नुमव्यवायेऽपि से णत्व कार्य कर पुराण शब्द निर्मित होता है। इसके साथ-साथ ''पूर्वकालेक सर्वजरत्पुराणमवकेवालाः, समानाधिकरणेन'' सूत्र से तुट् प्रत्यय का अभाव हो जाता है। नपुंसकलिंग में कहे जाने से यह शब्द शास्त्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके साथ ही यह शब्द ''पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु'' सूत्र निर्देश से निपात्नात् भी सिद्ध होता है [१]।

पुराण शब्द का संस्कृत वाङ्मय में जिस रूप में व्यवहार होता हैं उससे इस शब्द से यह ध्वनि प्रकट होती है कि साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का समावेश होने के साथ-साथ इसमें प्रचीन परम्परा के संरक्षण पर विशेष बल दिया गया है। ''पुराविद्यते इति पुराणम्'' इस पंक्ति के अनुसार पुराकाल में विद्यमान होने से इन्हें पुराण कह दिया जाता है [२]।

एक अन्य स्थल पर पुरा शब्द का अर्थ परम्परा के रूप में ग्रहण किया गया है। इस तरह से यह जानना संगत है कि जिस साहित्य में परम्परा का निबन्धन है, वह पुराण साहित्य है [३]।

....

१- पु. मी., पृ. २८

२- म. पु., पृ. २१९

३- वही. ५/२/२३

ब्रह्माण्डपुराण में एक संकेत में यह कहा गया है कि "प्राचीनकाल में ऐसा हुआ था" जिन ग्रन्थों में ऐसा कहा जाता है , वे पुराण कहलाते हैं [१]। आचार्य यास्क ने, जिन्होंने शब्द व्युत्पत्ति पर पर्याप्त प्रामाणिक काम किया है, कहा है कि "पुराणो भवति" अर्थात् जो पुराना है वह पुराण है। और पुराण साहित्य में पुरातन को ही नवीन रूप प्रदान किया गया है [२]। वर्तमान कालिक एक संस्कृत के विद्वान और संस्कृत वाङ्मय के समीक्षक कहते हैं कि पुराण शब्द का अर्थ प्राचीन तथा पूर्वकाल में होने वाला हो सकता हैं[३]। एक अन्य विद्वान पुराणों में दिये गये "इतिनाश्रुतम्-इतिश्रुतम्", "इति श्रूयते" इन पदों के आधार पर यह व्यवस्था देते हैं कि इन पदों से वर्णनीय विषयों की प्राचीनता का तथा पौराणिकों का संकेत मिलता है [४]।

इस रूप में यथार्थ पूर्वक विचार करके यह कहना सम्भव हो सकता है कि पुराण शब्द का अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जिन ग्रन्थों में परम्परा का निर्वाह होता है और साथ ही साथ जिनमें नवीनता की स्थापना का भी संकेत किया जाता है। इसी के साथ पुराणों में विषयवस्तु की प्राचीनता अपेक्षित होती हैं और तब पुराण का अर्थ होता है -पुरातन्, पुराना, प्राचीन संज्ञा के रूप में "पुराण" का बोध इन ग्रन्थों से रूपकात्मक तथा तथ्यात्मक पुरावृत्त भी होता हैं[५]।

....

१- ब्रह्माण्ड पु. १/२/१७६

२- निरुक्त ३/१९

३- पु. वि., पृ. ५

४- हरि. पु. सां. अ., पृ. १

५- पु. मी. , पृ. ६

(ख)-पुराण संरचना की पृष्ठभूमि तथा समय एवं रचयिता

पुराण साहित्य यद्यपि अपेक्षाकृत परवर्तीकाल में रचा गया साहित्य कहा जा सकता है तथापि पुराण शब्द का प्रयोग वेद एवं वेदांग साहित्य में भी किया गया है। ऋग्वेद और अथर्ववेद पुराण, पुराणी, पुराणवित् जैसे शब्दों का उल्लेख कर पुराण साहित्य की किसी न किसी रूप में उपस्थिति का संकेत करते हैं। ऋग्वेद में, जो वैदिक वाङ्मय का सर्वाधिक प्राचीनतम ग्रन्थ है, एक स्थान पर ''सनापुराणमध्येरात्'' कहकर पुराण के निर्वचन का संकेत है।[१] अथर्ववेद के एक मंत्र में यह कहा गया है कि-'' व्यास के रूप में उत्पन्न होकर जिस ईश्वर ने सर्वाश्रयी होकर पुराणों का निर्वचन किया है, उन पुराणों को पुरुषोत्तम ईश्वर को ही अनुकूल करने वाला जानना चाहिए''।

ब्राह्मण साहित्य में भी अनेकश: ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक किसी न किसी रूप में पुराणों का प्रचलन था। जैसे कि एक स्थान पर कहा गया है कि यज्ञ के नवम् दिन पुराण का पाठ किया जाना चाहिए- ''अथ नवमेऽहनि किंचित्पुराणमावक्षीत''। एक अन्य सन्दर्भ में यह वचन प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि वाक्योवाक्य, इतिहास और पुराण का पाठ प्रतिदिन करना चाहिए। जो इस प्रकार का आचरण करता है,वह देवताओं को तृप्त करता है।

-''वाक्योवाक्यमितिहासपुराणमित्यरहरहः स्वाध्यायमकीते''।

....

१- ऋ. वे. ३/६/४९, १०/१३०/६, ९/९९/४, अ.वे. ११/७/२७, ११/८/७

२- ऋ. वे. ३/५८/६

३- यत्र स्कम्भ: प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्।

४- एकं तदंगं स्कम्भत्यपुराणमनुसंविदुः'' अ. वे. ११/७/२५

५-शतपथ ब्रा. ११/५/७/९

उपनिषद् में भी इस तथ्य की समीक्षा है कि उस समय तक पुराणों की चर्चा पर्याप्त रूप से होने लगी थी। श्री नारद जी अध्ययन करने के लिये जब सनत्कुमार महर्षि के पास गये थे, तब उन्होंने कहा था कि "भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, और पंचम वेद के रुप में कहे जाने वाले इतिहास पुराण का अध्ययन कर लिया है"। इसी तरह से बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थान पर यह कहा गया है कि "जिस तरह गीली लकड़ी से धूम निकलता है उसी प्रकार से ईश्वर की श्वास के रूप में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदादि प्रकट हुए हैं।"

स्मृतिग्रन्थों में भी पुराणों की चर्चा के अनेकों उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसे उशना स्मृति में एक संदर्भ इस प्रकार का है कि आचार्य एक संवत्सर तक उसकी परीक्षा कर लेने के बाद उसे वेद, धर्मशास्त्र तथा पुराण के तत्वों का उपदेश करें[३]। इसी तरह से पुराण तथा खिल सुनाना चाहिए[४]। वाल्मीकि रामायण में बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड में पुराण शब्द का उल्लेख किया गया है[५]।

....

१-ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।

ई. छा. उ., पृ. २२५

२- यथाद्रेन्धग्नेभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा एत महतो भूतस्य निश्वसित मेतथदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वागिंरस इतिहास पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः।

बृहदा, पृ. ३०७.

३- उशना स्मृति, पृ. ४/३४

४- म. स्मृ. ३/२३२

५- बा. रा. बालकाण्ड ३९/१, अयोध्या का. १६/१

एक अन्य महाकाव्य में यह कहा गया है कि इतिहास और पुराणों का अनुशीलन करके ही वेदों का अध्ययन करना चाहिये क्योंकि अल्पश्रुत से वेद डरते हैं और यह आशंका करते हैं कि कहीं यह मेरी हत्या न कर दे। अर्थात् यह अपने अल्प ज्ञान से ही मेरे अर्थ का अनर्थ न करने लग जाए। व्याकरणशास्त्र के यशस्वी विद्वान और महर्षि पतंजलि का यह कहना है कि "इतिहास, पुराण और वैद्यक ये सभी शब्द विद्या के विषय हैं।"[१] एक प्रसिद्ध नीतिकार ने एक स्थान पर कहा है कि "सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश और वंशानुचरित पुराणों के लक्षण हैं"। साथ ही वे कहते हैं कि "धर्म का तत्त्व अत्यधिक गहन है इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह श्रुति, स्मृति और पुराणों में प्रतिपादित धर्म का ही पालन करे"।[२] आचार्य कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र में पुराण, रामायण, महाभारत, इतिहास तथा आख्यायिका का उल्लेख किया है तथा उन्होंने धर्मशास्त्र और इतिहास में इनका समाहन किया है।[३]

इन सभी संदर्भों का अनुशीलन कर यह कहा जा सकता है कि पुराणों की कथा के बीज अति प्राचीन समय में विद्यमान थे। वे धीरे धीरे बाद में विकसित होते गये। विण्टरनित्स ने यह कहा है कि "वेदों और पुराणों में आख्यानों की समानता होते हुए इनमें अनुवर्ती विकास परम्परा निहित है"।[४]

....

१- महाभाष्य १/१/१

२- शुक्र नी. ४/२६४,३/३८

३- कौटि. अर्थ., पृ. १९

४- हि.इ.लि., भाग-१, पृ. ५१८

समय-

पुराण संरचना का निश्चित समय निर्धारित कर पाना तो बड़ा कठिन काम है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसके कथानकों के बीज अत्यधिक प्राचीन वाङ्मय में देखे जा सकते हैं। अर्थवेद में जो "पुराणवित्" शब्द प्राप्त होता है, उसके सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि इसमें उन मनस्वियों और विद्वानों की ओर संकेत किया गया है जो पुराणों के आचार्य हैं।[१] वे आचार्य इस कोटि के रहे होंगे, जिन्होंने पुराण कथाओं के आदि बीजों का बाद में पल्लवन किया होगा।

पुराणों की रचना के प्राचीन समय का संकेत उपनिषद् भी देता है क्योंकि उपनिषदें प्राचीन वैदिक साहित्य की अन्तिम रचनाएं हैं। शतपथ ब्राह्मण में तो स्पष्ट रूप से इतिहास के साथ-साथ पुराण का भी उल्लेख किया है।[2] गोपथ ब्राह्मण में भी चारों वेदों के उद्भव के साथ-साथ ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास एवं पुराणों का संकेत है।[३] इसीलिए इन संदर्भों को देखकर यह कहना सहज और स्वाभाविक हो जाता है कि वेदों के साथ-साथ पुराण संरचना के बीज निहित थे। यद्यपि ग्रन्थ रूप में पुराण बाद में रचे गये होंगे।

....

१- पु. सं., पृ. ३४-३५

२- श. ब्रा. १३/४/३/१२-१३, ११/१५, १४/६/१०/६

३- एवमिमे सर्वे वेदनिर्मिता, संकल्पा: सरहस्या: सब्राह्मणा: सोपनिबिद्धा: ऐतिहासा: सान्वारव्याता: सपुराणम्। गोपथ ब्रा. पूर्वभाग २/१०

एक समीक्षाकार ने कहा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह संकेत मिलता है कि उस काल में इतिहास एवं पुराण की पृथक्-पृथक् धाराएँ थी किन्तु दोनों के वर्ण्य विषयों की शैली में पर्याप्त रूप में अन्तर था। कुछ उपनिषदें तो पुराणों का सन्दर्भ इस रूप में देती हुई दिखाई देती हैं जैसे पुराणों के ग्रन्थ अन्य ग्रन्थों की भांति उसी समय संकलित हो चुके थे।[१]

पुराणों की महत्ता का एक सन्दर्भ इस रूप में दिया जा सकता है जिस रूप में यह कहा गया है कि जो पुराणों का विधिपूर्वक अध्ययन करता है वह अमरत्व को प्राप्त करता है।[२] इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर पुराणों की महत्ता का कथन इस रूप में किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि पुराण पाठ करते हुये यदि यज्ञ में यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त हो तो मंगलकारक है।[३]

पुराण केवल कथा ग्रन्थों के रूप में ही मान्य नहीं थे, अपितु धर्म और न्याय के क्षेत्र में भी ग्रन्थों को प्रामाणिक कहा गया था।[४] और इस रूप में इतना तो कहा ही जा सकता है कि पुराणों को चाहे जितना परवर्ती मान लिया जाये किन्तु इनकी रचना काल की बीजावस्था उतनी अर्वाचीन नहीं हैं जितनी सामान्यत: समझ ली जाती है।

....

१- तै. आ. २/९, बृहदा. २/४/११, छान्दो ७/१/४

२- आ. गृ. सू. ३/४, ४/६

३- तदीयमाना आसत आशान्त रात्रादामुष्मता कथा: कीर्तियन्तो

मांगल्यानीतिहासपुराणानीत्यारूपायमाना। वही ४/६

४- वही ११/१९

पुराण संरचना के अन्य अनेक सन्दर्भों को देखकर यह भी कहा जाता है कि सूत्रकाल तक प्राय: पुराणों का प्रणयन और संकलन प्रारम्भ हो गया था। और सूत्रकाल ईसापूर्व की पाँचवी/छठवीं शताब्दी माना जाता है, इसलिए पुराण संरचना का समय भी वही माना जाना चाहिए। यद्यपि कहा यह भी जाता है कि पुराण संरचना काल इसके पूर्व का है किन्तु इस साहित्य को साहित्यिक रूप बाद में मिला है।[१] एक अन्य विद्वान यह भी कहते हैं कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र की रचना होने के पूर्व ही सम्भवत: स्कन्द पुराण रचे जा चुके थे। बाद में अन्य पुराण विधि सहित रचे गये होगें।[२] यही मत भारतीय विद्वान पं. बलदेव जी उपाध्याय का भी है। वे भी यह कहते हैं कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र की रचना के समय कम से कम एक पुराण की रचना तो की ही जा चुकी थी।[३]

पुराणों के सन्दर्भ में और अधिक तथा सटीक जानकारी वाल्मीकि रामायण से प्राप्त होती है। इस महाकाव्य में जो लौकिक संस्कृत साहित्य का आदि काव्य है और जो स्वयं में एक प्रकार से इतिहास ग्रन्थ है कहा गया है कि सुमन्त न केवल पुराणवेत्ता थे अपितु वे अन्य पौराणिक पुरावृत्तों के वेत्ता भी थे।[४]

....

१- पु. स., पृ३७, ह.पु. सां. अ.,पृ. ११

२- स्टडीज इन द उपपुराणाज भाग-१, पृ. २

३- पु. वि., पृ.१९

४- वाल्मीकि रामा., पृ. ४८२, ११८, ४५८

महाभारत ग्रन्थ इस सन्दर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण उदाहरण देता है। इसमें तो यहाँ तक कहा गया है कि महाभारत महाकाव्य की रचना व्यास ने पुराणों की रचना के बाद की है।[१] इसी तरह से एक स्थान पर यह लिखा है कि पुराणरूपी पूर्णचन्द्र के द्वारा श्रुति रुपा चन्द्रिका का विवरण किया गया है।[२] महाभारत का जन्मेजय नागयज्ञ का वर्णन वायुपुराण से लिया गया है ऐसा भी कुछ समर्थक कहते हैं। हाकिंस ने यह स्वीकार करते हुए कहा है कि वायुपुराण का जन्मेजय द्वारा किया गया नागयज्ञ वर्णन महाभारत से प्राचीन है।[३] यद्यपि यह कथन और ऐसे भी अन्य कथन सभी विद्वानों को स्वीकार नहीं हैं तथापि महाभारत की अन्तिम रचना-परिणति के पूर्व अनेक पुराण लिखे जा चुके हैं यह तो मान्य होना चाहिए।[४]

आचार्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र ईसा पूर्व की तीसरी अथवा चतुर्थ शताब्दी की रचना माना जाता है।[५] इस रचना में न केवल पुराणशास्त्र की रचना की गई है अपितु इसमें पौराणिकों के महत्त्व को भी यथारूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें एक तो यह कहा गया है कि राजा अन्य साहित्य पढ़ने के साथ-साथ पुराण भी पढ़ें[६] तथा अन्य विद्वानों के साथ-साथ राजा पौराणिकों को भी एक हजार पण का वेतन देवें।[७] इसका अर्थ हुआ कि मौहतिक, सूत, मागध के साथ साथ राज्याश्रय प्राप्त पुराणों के पण्डित भी होते थे, जो पुराणों के अध्ययन कर चुके हुए होते थे।

....

१- महाभारत १८/६/९५

२- वही, आदि पर्व २/८६

३- द ग्रेट एपिक आफ इण्डिया, ४८

४- ए. हि.सं. लि., पृ. २९९

५-कौ. अ. भू. पृ. ३९

६-वही, भू. पृ. १९

७-वही, पृ. ५१३

रचनाकाल निर्धारण करने की दृष्टि से स्मृतियों में किए गए पुराणों के उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा कि मनु स्मृतिकार ने लिखा है कि पितृश्राद्ध के समय वेदशास्त्र, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास व पुराणों का श्रवण अवश्य किया जाना चाहिए।[१] व्यास स्मृतिकार आचार्य ने यह व्यवस्था दी है कि द्विज वर्णों के लिए यह उचित है कि वे अपना जीवन पौराणिक धर्म के अनुकूल व्यतीत करें।[२] इनके इस कथन से यह संकेत मिलता है कि पौराणिक धर्म भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना वेदों और स्मृतियों का धर्म महत्त्वपूर्ण है। महर्षि याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है कि पुराण विद्या मनुष्यों के द्वारा अध्येय चौदह विद्याओं में से एक महत्त्वपूर्ण विद्या है। इस विद्या का अध्ययन देव एवं पितृभक्ति को देने वाला है। इसलिए नियमित रूप से इसका अध्ययन करना चाहिए।[३] शुक्राचार्य अपनी प्रसिद्ध कृति शुक्रनीति में यह लिखते हैं कि राजकीय कार्यों के निष्पादन में पौराणिकों की बुद्धि विलक्षण होती है और उनकी उपयोगिता अन्य ज्ञानियों के सदृश्य ही है।[४]

....

१- मनु. स्मृति, पृ. १२४

२- व्यास स्मृति, २/५

३- याज्ञ. स्मृ., पृ. ४६

४- साहित्य शास्त्राणि पुराणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः।

सर्गादपर्ववेदज्ञाता सर्वे पौराणिकः स्मृतः॥

शु. नी. , पृ. ८३

शुक्रनीतिकार जिस सन्दर्भ में विद्याओं और कलाओं की चर्चा करते हैं वहीं पर वे पुराणों को एक विषय के रूप में गिनते हैं और सर्ग, प्रतिसर्ग तथा मन्वन्तर के रूप में पुराण का लक्षण भी करते हैं।[१]

गद्य साहित्य के ख्यातिलब्ध आचार्य वाण का समय लगभग सप्तम शताब्दी माना जाता है। उन्होंने भी अपनी प्रसिद्ध रचनाओं में पुराणों का संकेत किया है।[२] वाण की कादम्बरी ''पुराणेषु वायु प्रलपितम्'' के रूप में पुराण परम्परा के रूप में पुराण का उल्लेख करती है तथा ऋषिकुलों के वर्णन में भी पुराणों का उल्लेख इसमें मिलता है।[३] हर्षचरित में वायु द्वारा पोषक पुराण के रूप में वायु पुराण का उल्लेख है और मनु व्यास द्वारा पुराणों की प्रतिष्ठा की गई प्रतीत होती है।

पुराणों के सन्दर्भ में जो अन्य उदाहरण देखने को मिलते हैं उनमें जैमिनि के सूत्र और आचार्य कुमारिल भट्ट के सन्दर्भ भी उद्धृत किये जा सकते हैं[५] और इन सभी संदर्भो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुराणों की परम्परा परम्परावलम्बी परम्परा के रूप में प्रतिष्ठित है।[६]

....

१- वही, पृ. २२५, २२९

२- का. क. भू.,पृ. २०

३- वही, पृ. १२८, २८१

४- वही, पृ. १४६, १४७

५- मी. प्र., पृ. ६

६- वही २/३/१

पुराण और स्मृतियाँ लगभग समानार्थक शास्त्र हैं, ऐसा संकेत भी कुछ आचार्यों ने किया है। जैसे अद्वैत वेदान्त के आचार्य ऋषिकल्प शंकराचार्य ने पुराणों और स्मृतियों को समानार्थक कहा है। इसी प्रकार अनेक ऐसे संदर्भ भी प्राप्त हैं जिनके अनुसार यह कहा जाता है कि गुप्तकालीन तथा गुप्तोत्तर कालीन सन्दर्भों में जो शिलालेख हैं उनमें भी पुराणों के नाम उत्कीर्ण मिलते हैं। जैसे कि ब्रह्म पुराण, भविष्य पुराण और गरूड़ पुराण के उल्लेख तो स्पष्टत: उनमें हैं ही।[१]

इन सब सन्दर्भों के अनुसार यह कहना पड़े कि पुराणों की रचना का एक निश्चित समय क्या है ?, तो यह कहना इसलिए कठिन होगा क्योंकि पुराणों की कथावस्तु आख्यान परक है और यह एक ऐसी कथावस्तु है जो निरन्तर कहीं न कहीं चलती रही है, तथा जिसका कोई एक निश्चित समय नहीं निर्धारित किया जा सकता है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वाणभट्ट ने अपनी कृतियों में पुराण साहित्य को जो प्रमुखता दी है, उसके आधार पर एक विद्वान यह कहते हैं कि पुराण साहित्य एक प्राचीन साहित्य है।[२]

....

१ - ज. रा. ए. सा. (१९१२) पृ. २४८, २५५

२ - पु. इ. मू., पृ. १८-२१, क. हि. वा. पु., पृ. ४-५

जिस प्रकार वायु पुराण के उल्लेख प्राप्त होते हैं और यह माना जाता है कि यह एक प्राचीन पुराण है उसी प्रकार से विष्णु पुराण के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसकी रचना शैली और वर्ण्य विषय समरूप हैं। इसी पुराण की रचना शैली से यह ज्ञात होता है कि उस समय तक पुराणों की रचना दृष्टि से पुष्टता दिखाई देती है। इससे यह भी अनुमान होता है कि यह समय वंशीय शासन का समय रहा होगा, ज़ो ईसा की पांचवीं शताब्दी के आसपास हो सकता है क्योंकि उस समय सम विचारभाव का समाज था।

मत्स्यपुराण के विषय में यह कहा जाता है कि यह पुराण भी एक प्राचीन पुराण है और सम्भवत: कई अन्य पुराणों की रचना का स्रोत है। आचार्य बल्देव उपाध्याय ने यह कहा है कि कालिदास का नाटक विक्रमोर्वशीय प्रामाणिक है। अब यदि कालिदास को गुप्तयुग का स्वीकार किया जाता है तो स्वाभाविक है कि मत्स्यपुराण उसके पूर्व रचा जा चुका था और यह समय ईसापूर्व से २०० से ४०० वर्ष पूर्व का होना चाहिए।[२]

एक मत यह भी दिया जाता है कि प्रारम्भिक रूप में पुराण लिखे गए तब इनमें पंचलक्षण दिए गए थे।

....

१- ए. इ. हि.दे.,पृ. ८०

२- पु. वि., पृ. ५४३-५४४

बाद के समय में पुराणों में विविध सम्प्रदायों की विचारधाराएँ जुड़ती गईं और वे फिर विविध विचारों के वाहक बन गए। इस दृष्टि से जब विचार किया जाता है कि रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य क्रमश: तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के आचार्य हैं इसलिए इनके विचारों का प्रतिफलन पुराणों में नहीं हुआ। इस दृष्टि से यदि देखा जाये तो फिर पुराणों की रचना बहुत बाद में ठहरती है।[१]

यह तो प्रथम रूप में ही संकेत किया जा चुका है कि पुराणों की विशालता, विविधता, व्यापकता आदि के कारण यह कह पाना तो कठिन है कि पुराण रचना की प्रथम तिथि कौन सी है? और किस तिथि को इनका प्रणयन पूर्ण हो गया? किन्तु इतना अवश्य कहा गया है कि पुराणों की आख्यान अवस्था १२०० ईसा पूर्व से ९५० ईसा पूर्व तक की हो सकती है। इसी प्रकार से पुराणों की पंचलक्षण अवस्था ५०० ईसा पूर्व से लेकर ईसवीय की प्रथम शताब्दी होनी चाहिए। इसी प्रकार से पुराणों में साम्प्रदायिक विचारों के समावेश का काल प्रथम शताब्दी से ७०० ईसवी तक हो सकता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री काणे महोदय ने लगभग यही निष्कर्ष निकाला है और लिखा है कि प्रथम स्थिति में पुराणों के सन्दर्भ वेद, उपनिषद् तथा वेदांगों में पाए जा सकते हैं।

....

१- पु. सं., पृ. ४७

२- पु. प. भाग १, पृ. २१३-२१९

द्वितीय स्थिति वह है जिसमें तैत्तरीय आरण्यक एवं आपस्तम्ब धर्मसूत्र भविष्यपुराण की सूचना देते हैं। यह समय ईसा पूर्व की चतुर्थ अथवा पंचम शताब्दी हो सकता है। तीसरी स्थिति में महाभारत और स्मृतियाँ हैं जो पुराणों का उल्लेख करती हैं इसलिए मत्स्य, वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण ३२० से ३२५ ईसवी तक रचे जा चुके थे और इनका पुनः संस्कार भी तब तक हो चुका था। शेष अधिक मात्रा में पुराण पाँचवीं, छठीं शताब्दी में अपनी रचना का आकार पा चुके थे। इसी प्रकार से वे यह मत भी व्यक्त करते हैं कि सातवीं-आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक उप पुराण अपना आकार ग्रहण कर चुके थे।

इस रूप में समेकित दृष्टि से यदि देखा जाए तो यह कहा जाना चाहिए कि पुराणों की रचना का काल एक बड़े विस्तार का काल है और यह काल ईसा पूर्व की तीसरी-चौथी शताब्दी से लेकर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक हो सकता है ।

रचयिता:

यह बहुश्रुत बहुप्रचारित है कि पुराणों की रचना सत्यवती पुत्र वेदव्यास ने की है। अनेक पुराण तथा कथन इस बात को प्रायशः प्रमाणित भी करते हैं। स्कन्द पुराण में एक स्थान पर यह कहा गया है कि ईश्वर ने स्वयम् ही तद्-तद् युगों में व्यास का रूप धारण कर पुराणों की रचना की है।[२]

....

१- हि. ध. भाग २, पृ. ८५३-८५५

२- म. पु. (१), पृ. २१८

व्यास के रचनाकार होने के सम्बन्ध में एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि व्यास एक पदवी भी हुआ करती थी और जो समय-समय पर विविध उपाख्यानों और कथानकों को सुनाया करते थे, उनकी उपाधि व्यास हुआ करती थी।[१] इसके साथ ही इतने अधिक पुराणों की रचना एक व्यक्ति ही कर सके, यह भी सम्भव नहीं दिखता था, इसलिए यह भी सम्भव है कि जिन्होंने भी पुराणों की कथा कही अथवा पुराणों की रचना की, वे सभी व्यास पदवी से अभिहित हुए हैं और बाद में उन्हें एक ही वेद व्यास के रूप में मान लिया गया। पृथक्-पृथक् पुराणों के पृथक्-पृथक् रचनाकार होने का एक तर्क यह भी दिया जाता है कि इन पुराणों में अनेक पुराणों की भाषा शैली भिन्न-भिन्न है, इसलिए भी इन सभी के रचनाकार एक नहीं हो सकते हैं। यद्यपि व्यास के रचनाकार होने न होने के सम्बन्ध में मत दिए गए हैं। जैसे एक स्थान पर यह कहा गया है कि व्यास को साक्षात् नारायण ही मानना चाहिए। इन्हीं ब्रह्मवादी, सब तत्त्वों के ज्ञाता, सम्पूर्ण लोकों में पूजित व्यास पुराण वाचक हैं क्योंकि इन्हीं से सभी पुराण सुने गये हैं।[२] एक दूसरा सन्दर्भ यह कहता है कि अष्टादश पुराणों के व्याकर्ता महर्षि मनु हैं।[३]

....

१- सं. श. कौ., पृ.१०८१

२- प. पु. १,पृ ४०-४१

३- अष्टादशपुराणानां व्याकर्ता भवेद् मनुः।

प. पु. पातालखण्डे १११/९८

भाषा की दृष्टि से यदि पुराणों का अवलोकन किया जाय तो यह दिखाई देता है कि श्रीमद्भागवत की भाषा केवल क्लिष्ट ही नहीं है, कहीं-कहीं तो अति क्लिष्ट है। इसी प्रकार से यदि पद्म पुराण की भाषा का अवलोकन किया जाये तो यह दिखाई देता है कि इस पुराण की भाषा सरल है।[१] इसी तरह से पद्म पुराण का सन्दर्भ है कि "ब्रह्मा ने भिन्न-भिन्न युगों में व्यास का रूप धारण कर विविध पुराणों की रचना की।"[२] इन सन्दर्भों की संकेतावस्था से यही प्रतीत होता है कि विविध पुराणों की रचनाओं में भिन्न-भिन्न व्यास हो सकते हैं। यद्यपि परम्परा और आस्था का आधार यही है कि वेद व्यास ही पुराणों के रचनाकार हैं।

इस रूप में इतिहासगत, भाषागत, व्यास शब्द की व्युत्पत्तिगत दृष्टिकोणों की समीक्षा करने के बाद यह प्रतीत होता है कि इन सभी तर्कों में अपना-अपना बल है। किन्तु लोक भावना और मान्यता के उस बल को भी तो नहीं नकारा जा सकता है, जिसमें वेदव्यास को ही पुराणों का रचनाकार कहा गया है।

....

१- भा. पु., पृ. २६७,प.पु., पृ २४५

२- प. पु. , सृष्टि खण्ड १/५०

(ग) - पुराण वर्गीकरण तथा वर्णित विषयों का संकेत -

पुराण साहित्य एक ऐसा साहित्य है जो प्रमुख रूप से असंख्य विषयों का विवेचन करता है किन्तु इन्हीं पुराणों की एक विशेष दृष्टि है जिसके अनुरूप प्रत्येक पुराणकार का अपना एक इष्ट होता है और वह अपने इस इष्ट का वर्णन जिस रूप में करता है , वह सर्वातिशायी होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो पुराण अपने इष्ट रूप एक देवता का वर्णन करता है, वह इस रूप में उस देवता की स्थापना करता है जिसमें उस देवता को ही सृष्टि का उत्पत्तिकर्ता, रक्षक और विनाशक कहा जाता है। जैसे विष्णु पुराण में भगवान् विष्णु का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि वे ही सृष्टि के सर्वज्ञ, पालक और संहारक हैं। वे त्रिकाल में अविनाशी हिरण्यगर्भ तथा शंकर हैं।[१]

इसी तरह जब लिंग पुराण के रचनाकार लिंग की अतिशयता का वर्णन करते हैं तब वे कहते हैं कि लिंग ही शिव हैं , उनकी आज्ञा से ही समस्त महाभूत सृष्टि का सृजन करते हैं और बुद्धि भी इसी लिंग की आज्ञा से कार्य-प्रवृत्ति करती है।[२]

यही कारण है कि पुराणों का एक वर्गीकरण देवताओं के आधार पर किया गया है।

....

१ -सर्गस्थितिविनाशानां जगतो योऽजगन्मयः।

मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने ॥

वि. पु., पृ. ४६

२-लि. पु., पृ. १५८

स्कन्द पुराण में देवाधारित वर्गीकरण ही दिया गया है जिसके अनुसार दस पुराण शैव, चार पुराण वैष्णव, दो पुराण ब्रह्म, एक अग्नि और एक पुराण सूर्य देवता से सम्बन्धित हैं। इस वर्गीकरण को वहाँ पर इस रूप में प्रस्तुत किया गया है -

(१) <u>शैव पुराण</u> - (१) शिव पुराण
(२) भविष्य पुराण
(३) मार्कण्डेय पुराण
(४) लिंग पुराण
(५) वराह पुराण
(६) स्कन्द पुराण
(७) मत्स्य पुराण
(८) कूर्म पुराण
(९) वामन पुराण
(१०) ब्रह्माण्ड पुराण

(२) <u>वैष्णव पुराण</u>- (१) विष्णु पुराण
(२) भागवत पुराण
(३) नारद पुराण
(४) गरुड़ पुराण

(३) <u>ब्रह्म पुराण</u> - (१) ब्रह्म पुराण
(२) पद्म पुराण

(४) <u>अग्नि पुराण</u>- (१) अग्नि पुराण

(५) <u>सूर्य पुराण</u>- (१) ब्रह्मवैवर्त पुराण

यह वर्गीकरण एक प्रकार का है जो मुख्य रूप से देवाधारित है। एक दूसरा वर्गीकरण पुराणों का इस रूप में किया गया है जिसमें पुराणों के गुणाधारित स्वरूप का वर्गीकरण समाहित है। जैसे कि मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव,स्कन्द, अग्नि पुराण , तामस पुराण के रूप में वर्गीकृत हैं। विष्णु, नारद, भागवत, गरूड़, पद्म और वराह पुराण सात्विक पुराण के रूप में वर्गीकृत हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्म वैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और ब्रह्म पुराण राजस पुराण के रूप में वर्गीकृत हैं।[१]

इन पुराणों के आधार पर किये गये वर्णन के विषय में यह कहा गया है कि जो पुराण सतोगुण प्रधान हैं उसमें विष्णु के महात्म्य का वर्णन किया गया है। जो पुराण रजोगुण प्रधान हैं उनमें ब्रह्मा का स्तवन किया गया है और वे ब्रह्मा की प्रधानता वाले पुराण माने जाते हैं। इसी तरह से जो पुराण तमोगुण प्रधान हैं उनमें अग्नि देवता तथा शिव के महात्म्य का कथन प्रमुख रूप से किया गया है।[२]

इन वर्गीकरणों के अतिरिक्त भी पुराण वर्गीकरण की एक और दृष्टि है। और वह दृष्टि है और उनमें वर्णित विषयों की दृष्टि। जैसे कि जो पुराण इतिहास संगत विषय वस्तु का विवेचन करते हैं उन्हें ऐतिहासिक पुराण कहते हैं जैसे कि गरूड़, अग्नि और नारद पुराण। द्वितीय वर्ग वह है जिसमें तीर्थों और व्रतों का वर्णन है जैसे पद्मपुराण,स्कन्द और भविष्य पुराण। तीसरा वर्ग वह है जिसमें साम्प्रदायिक दृष्टि से वर्णन है। वे हैं लिंग, वामन, मार्कण्डेय। चतुर्थ वर्ग वह है जिसमें प्रक्षिप्तांशों की बहुलता है इनमें हैं -ब्रह्मवैवर्त, भागवत आदि।[३]

....

१- प. पु. उत्तर काण्ड २६३/८१-८४

२- वही, पृ. २१९

३- पु. स., पृ. १९, कल्याण, पृ ५५३

विषय संकेत:-

पुराणों में लक्षण देते समय यह कहा गया है कि पुराण लक्षणात्मक होते हैं। इन पाँच लक्षणों में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित परिगणित हैं।[1] इनमें से सर्ग का अभिप्राय है विधाता की सृष्टि संरचना से। प्रतिसर्ग का अभिप्राय उपसृष्टि से है जो ब्रह्मा के मानस पुत्रों द्वारा की गयी है। अथवा कुछ मत यह भी है कि प्रतिसर्ग का अर्थ प्रलय से लिया जाना चाहिए। वंश का अभिप्राय पुराणों में वर्णित उन वंशों से है जिनके चरित्र इन पुराणों में संकलित हैं। जैसे सूर्य वंश, चन्द्र वंश, अग्निवंश आदि। मन्वन्तर सृष्टि गणना का वह स्वरूप है जिसमें स्वयंभू मनु ने पृथ्वी पर आकर अपनी सामाजिक व्यवस्था दी। वंशानुचरित से अभिप्राय उन राजाओं के जन्म , कर्म का प्रतिपादन है जो भिन्न-भिन्न वंशों में उत्पन्न हुए। पुराणों में इन सभी का विस्तार से वर्णन है और साथ ही साथ इन पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि के चरित्र , माहात्म्य तथा इनके द्वारा किये गये कार्यों का वर्णन है। मनुष्य जीवन के लिए चार पुरुषार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का महत्त्व प्राचीन समय से ही कहा जाता रहा है। और भारतीय दृष्टि कोण का यह अभिमत रहा है कि चार पुरुषार्थों के प्रतिपादन से ही मनुष्य जीवन की सार्थकता कही जा सकती है। यदि इन पुरुषार्थों को पृथक् कर दिया जाये तो यह कहना निरर्थक हो जाएगा कि मनुष्य जीवन की उपयोगिता पशु जीवन से पृथक् रूप से हो सकती है। मनुष्य जीवन की सार्थकता ही केवल चार पुरुषार्थों से सिद्ध होती है। पुराणों में इनका प्रतिपादन विस्तार से किया गया है।

इसी सबका समाहरण विविध पुराणों में किया गया है। और सभी पुराण किसी न किसी रूप में इसी का आख्यान करते हैं। विष्णु पुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा देवी भागवत जैसे उप पुराण भी इसी प्रकार की विषयवस्तु का वर्णन करते हुए देखे जा सकते हैं।[2]

इस आधार पर समीक्षक यह भी कहते है कि इन लक्षणों का जिनमें समावेश किया गया है, वे पुराण कहे जा सकते हैं अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जो पुराण संज्ञक ग्रन्थ हैं, उनमें यही पंच लक्षण विषय होते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों का यह कहना है कि स्थिति इससे भिन्न भी दिखाई देती है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कुछ पुराणों की विषयवस्तु या तो भिन्न है या फिर कुछ पुराणों में पंच लक्षणात्मक विषयों का समावेश कम मात्रा में किया गया है। पुराणों का पर्यालोचन करने वाले विद्वान यह मत व्यक्त करते हैं कि वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड तथा विष्णु आदि प्राचीन पुराण जैसे-जैसे ग्रथित होते गये उनमें पंच लक्षणों के अतिरिक्त अन्य विषय भी समाविष्ट होते गये हैं।[३]

....

१- सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितम् चैव पुराणं पंच लक्षणम् ॥

x x x x x

ब्रह्मविष्णुरुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च।

x x x x x

धर्मार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते ।

सर्वेष्वपि पुराणेषु तद् विरुद्धं च यत् फलम् ॥

म. पु. (१), पृ २१८

२- वि. पु. (१) , पृ. ३९१ , मा. पु. १३७ /१३, दे. भा. १/२/१६

३- पु. सं. , पृ. २०

एक भारतीय विद्वान ने ज़ोर देकर कहा कि जिन पंच लक्षणों का कथन पुराण-विषयों के लिए किया गया है, वे सभी के सभी किसी भी पुराण में पूरे स्वरूप में देखने को नहीं मिलते हैं। कुछ पुराण ऐसे हैं जिनमें इन पंचलक्षणात्मक विषयों से अधिक विषय संकलित दिखाई देते हैं और कुछ पुराण ऐसे हैं कि जिनमें ये पांचों लक्षण कहीं भी स्पर्श तक नहीं करते हैं। उनका तो यह कहना है कि यदि पुराणों के इसी प्रकार के लक्षण करने हैं तो उन्हें वंश लक्षणात्मक कहा जाना चाहिए।[१] एक अन्य मत यह है कि पुराणों का यदि इन लक्षणात्मक रूप से अध्ययन किया जाये तो यह प्रतीत होता है कि सभी पुराणों के चार लाख श्लोकों में से केवल दस हजार श्लोक ऐसे हैं जिनमें पंचलक्षणात्मक विषयों का समावेश किया गया है।[२]

श्रीमद्भागवत महापुराण में विषय की दृष्टि से पुराण के दस लक्षणों का कथन किया गया है। ये दस लक्षण है- सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित संस्था, हेतु तथा अपाश्रय।[३] इसका अभिप्राय यह हुआ कि विषय वस्तु के रूप में पुराणों में इन दस विषयों का निरूपण भी किया गया है।

....

१- कल्याण, पृ. ५५२

२- द., पृ. पं. ल., पृ. ९,४९,

३- भा. पु., पृ. १०७,७४३

एक अन्य मत के अनुसार पुराणों के लक्षण तो दस ही दिये गये हैं किन्तु पूर्व में दिए गये इन दस लक्षणों से इनमें कुछ भिन्नता है। इस मत के अनुसार सृष्टि, विसृष्टि, स्थिति, पालन, मनुवार्ता, प्रलय वर्णन, मोक्ष, निरूपण, हरिकीर्तन तथा देव कीर्तन रूप में दस लक्षणों का कथन किया गया है।

इन विषयों के अतिरिक्त जो अन्य विषय पुराणों में समाहित किए गए हैं वे विषय हैं विविध देवताओं की स्तुतियाँ, आचार-व्यवहार तथा नीति दर्शन। इन पुराणों का दृष्टिकोण क्योंकि मनु की आस्था को हटा कर उन्हें संस्कारित करना था, इसलिए उनके विषय भी उसी प्रकार दिखाई देते हैं। इसके साथ-साथ पुराणों का दृष्टिकोण सामाजिक स्वरूप का कथन और उससे सामाजिक संगठन का पुनः संस्करण भी था, इसलिए वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था का विस्तार पूर्वक विवेचन पुराणों में भी किया गया। इस रूप में यह दिखाई देता है कि पुराण जहां एक ओर देव स्तुतियों के द्वारा मनुष्य के मन को आस्थावान बनाते हैं वहीं वे उसके आचार-विचार का निरूपण कर उसे संस्कारित भी करते हैं। इस रूप में पुराण समाज को ऐसी विषय सामग्री देते हैं जैसी विषय सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है।[१]

....

१- पु. सं., पृ. २१

(घ)- श्रीमद्भागवत का सामान्य परिचय-

एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि चारों वेदों तथा सत्रह पुराणों की रचना करने के पश्चात् जब वेद व्यास जी को आत्मिक शान्ति प्राप्त नहीं हुई , तो उन्होंने महर्षि नारद के स्तवन के साथ-साथ उनकी आज्ञा से पुराण की रचना की ।[१] इस सन्दर्भ से इतना अनुमान किया जा सकता है कि श्रीमद्भागवत पुराण एक तो महत्त्वपूर्ण पुराण है तथा यह पुराण अन्य सभी पुराणों की अपेक्षा बाद की रचना हो सकती है ।[२]

यह महापुराण एक ऐसा पुराण है जिसे अन्य पुराणों की परम्परा में श्रेष्ठ पुराण के रूप में मान्यता प्राप्त है। इस पुराण में वेदांग दर्शन के साथ नारद पंचरात्र तथा गीता के दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादन का प्रयत्न किया गया है । इस पुराण में भगवान श्री कृष्ण के चरित्र का अनुशीलन जिस रूप में हुआ है, उससे वे भगवान होने के साथ अपूर्व रूप से एक लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। इस रूप में यदि देखा जाये तो श्रीमद्भागवत एक सामान्य पुराण न होकर एक विशिष्ट पुराण के रूप में , पुराण परम्परा में प्रतिष्ठित है।

....

१- अस्त्येवं मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।

तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वयात्मभवात्मभूतम ॥

x x x x x x

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्

x x x x x x

यथाधर्मादयाश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः ।

न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्युपवर्णिता ॥

मा. प. पु., पृ. ५५

स्कन्ध तथा अध्याय-

श्रीमद्‌भागवत पुराण के द्वादश स्कन्धों का विभाजन भी एक विशेष दृष्टिकोण रखकर किया गया है । ग्रन्थों के प्रारम्भ में भूमिका स्वरूप कुछ अध्यायों का ग्रथन करने के पश्चात् बारह स्कन्धों में यह ग्रन्थ पूर्ण किया गया है। यह बारह स्कन्ध भगवान् के अंशों के रूप में कहे गये हैं। इनका विवरण इस रूप में दिया गया है जिसमें कहा गया है कि इसके प्रथम और द्वितीय स्कन्ध भगवान् के चरण कमल, तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध भगवान् की जंघाएँ, पाँचवाँ स्कन्ध भगवान् की दोनों भुजाएँ , नवाँ स्कन्ध भगवान् का कण्ठ,दसवाँ स्कन्ध भगवान् का ललाट और बारहवाँ स्कन्ध भगवान की मूर्धा है। [१] इस रूप में यह पुराण केवल एक ग्रन्थ ही नहीं रह जाता है अपितु आस्था की दृष्टि से यह भगवत् स्वरूप के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कारण है कि इसका यही स्वरूप, आस्थावान् समाज में प्रतिष्ठा पा रहा है।

श्रीमद्‌भागवत में तीन सौ पैंतीस अध्यायों की गणना की गई है किन्तु कुछ आचार्यों ने यह कहा है कि महापुराण में तीन सौ पैंतीस की जगह तीन सौ बत्तीस अध्याय ही स्वीकार किये जाने चाहिए। [२]

....

१- पादौ मदीयौ प्रथम द्वितीयौ चरणौ।

कण्ठस्तुराजन् ! नवमो मदीयो--।

अपार संसारसमुद्रसेतु यजामहे भागवतस्वरूपम्

पु. त. मी., पृ. १४६-१४७

२- वही, पृ.१४७

रचयिता तथा रचना समय-

परम्परा और जनश्रुति का महत्त्व कम नहीं होता क्योंकि ये दोनों ही किसी न किसी आधार को लेकर ही चलते हैं। इस रूप में यदि देखा जाय तो वेदव्यास ही श्रीमद्भागवत के रचनाकार कहे जा सकते हैं। पराशर के पुत्र व्यास ने पुराणों की रचना के अन्त में श्रीमद्भागवत की रचना की और फिर उसे अपने पुत्र शुक्र के माध्यम से समाज में प्रकाशन का अवसर पाया। यह समय पाण्डवों का समकालिक समय है जिसे पौराणिक रूप से द्वापर का समय कहा जाता है। किन्तु इसके साथ-साथ एक कथन इस प्रकार का भी है जिसके अनुसार श्रीमद्भागवत के रचनाकार के रूप में श्री वोपदेव का नाम प्रचलन में आया।[१] यह प्रचलन कैसे हुआ यह तो ज्ञात नहीं है किन्तु इतना अवश्य है कि श्री वोपदेव ने श्रीमद्भागवत से सम्बन्धित तीन ग्रन्थों की रचना अवश्य की है। इसी प्रकार से आचार मध्व ने भी भागवत तात्पर्य का विश्लेषण किया है किन्तु तब वोपदेव विद्यमान नहीं थे। श्री रामानुजाचार्य ने वेद स्तुति में एकादश स्कन्ध के पद्य उद्धृत किए हैं किन्तु तब भी वोपदेव नहीं थे।[२] इसलिए वोपदेव को श्रीमद्भागवत का रचनाकार कहा जाना संगत प्रतीत नहीं होता है।

....

१- श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्।

विदुषा वोपदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम्॥

स. प्र., पृ. २२३

२- पु. वि.,पृ. ११८

श्रीमद्‌भागवत की रचना समय के सन्दर्भ में अनेक प्रकार के मत दिए गए हैं। मिताक्षरा, अपरार्क, कल्पतरु आदि में इस ग्रन्थ से कोई उदाहरण नहीं दिया गया है इसलिए यह कहा जाता है कि श्रीमद्‌भागवत की रचना अपेक्षाकृत बाद में हुई होगी। एक विद्वान ने यह मत व्यक्त किया है कि श्रीमद्‌भागवत की रचना देवी पुराण के बाद के समय में हुई होगी।[१] जबकि श्री बी. एन. कृष्णमूर्ति का यह मन्तव्य है कि इस महापुराण की रचना पाँचवीं शताब्दी की हो सकती है।[२] धर्म शास्त्रों पर अपनी प्रसिद्ध कृति धर्म शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करने वाले विद्वान श्री काणे का यह मत है कि यह पुराण अपेक्षाकृत बाद की रचना है क्योंकि कल्पतरु के मोक्षकाण्ड में इसका उल्लेख नहीं किया गया है, जबकि उसी काण्ड में विष्णु पुराण से श्लोक उद्‌धृत किये गये हैं। अतएव भागवत पुराण को नवम् शती के पूर्व की रचना मानने का कोई औचित्य नहीं दिखाई देता है।[३] सांख्यकारिका पर माठरवृत्ति लिखने वाले आचार्य ने अपनी वृत्ति में श्रीमद्‌भागवत के श्लोक उदधृत किये हैं। माठर का समय ५७७ से ५६९ के बीच का माना जाता है इसलिए श्रीमद्‌भागवत को इसके पूर्व काल का रचित ग्रन्थ माना जाना चाहिए।

पुराणों की रचना प्रक्रिया एक लम्बी रचना प्रक्रिया है , क्योंकि इसके कथा बीज बहुत पूर्व से ही साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे रहे हैं , इसलिए श्रीमद्‌भागवत के कथासूत्र भी इसके ग्रन्थ रूप में ग्रथित होने के पूर्व से ही साहित्य में विद्यमान रहे होंगे।

....

१-ए. बी. ओ. आर. आई., जिल्द १४, पृ.२४१-२४९

२-वही, पृ. १८२-२१८

३- ध. इ. (२), पृ. ४१९

(ङ) श्रीमद्भागवत में अभिव्यक्त विभिन्न नीतियाँ एवं आचार-

श्रीमद्भागवत महापुराण अपनी महत्ता और ख्याति से अन्य महापुराणों की अपेक्षा प्रतिष्ठित और समाज में प्रचलित महापुराण है। इस महापुराण में जो जो विषयवस्तु उठाई गई है, वह भी समाज की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन चरित और अन्य राज़वंशों का जीवन चरित भी इसी दृष्टि से इस महापुराण में वर्णित है जिससे उनके आचार व्यवहार को मनुष्य के जीवन में एक आदर्श आचार व्यवहार के रूप में देखा जा सके तथा उसे मनुष्य जीवन में अनुकृत किया जा सके। इस रूप में यदि देखा जाय तो श्रीमद्भागवत में सामाजिक परम्पराएँ और नीतिगत व्यवहार के स्वरूप स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

प्राचीन समाज में वर्णव्यवस्था और आश्रम व्यवस्था अपने पूरे प्रभावी रूप में स्वीकृत थी, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अपने-अपने वर्ण धर्म स्वीकृत थे। श्रीमद्भागवत पुराण में इन चारों वर्णों के लिए विहित धर्मों का आख्यान विस्तार से किया गया है और कहा गया है कि जो अपने वर्ण धर्म का पालन करता है वह समाज में स्वीकृत होता है। इस रूप में इन सभी वर्णों के कर्त्तव्यों का विधिवत निरूपण है। इसी प्रकार से तब समाज में स्वीकृत आश्रम व्यवस्था का वर्णन भी श्रीमद्भागवत पुराण में विविध रूपों में किया गया है ।

मनुष्य जीवन एक विधिवत जिया जाने वाला जीवन है। इसलिए इस पूरे जीवन को स्वच्छ एवं संस्कारित बनाने के लिए प्राचीन समय में संस्कारों का विधान किया गया था। सोलह संस्कार प्रमुख रूप से श्रीमद् भागवत में वर्णित हैं किन्तु साथ ही साथ कुछ विशेष संस्कारों का कथन विशेष रूप से किया गया है।

पारिवारिक स्वरूप की अवस्थिति का दर्शन श्रीमद् भागवत में दिखाई देता है। जिसमें माता-पिता, भाई-बहिन, और पुत्र-पुत्रियों के रूप में समाज की इकाई भिन्न दिखाई देती है। इसमें सभी के लिए अपने-अपने कर्तव्य तथा जीवन जीने की शुचिता के आचरणों का कथन श्रीमद्भागवत पुराण में किया गया है। मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं का जीवन जीता हुआ भी, केवल अपने लिए स्वार्थी न बन जाए, एतदर्थ ही परिवार में यह अपेक्षा होती है कि वह सभी के सुख-दुःख का भागीदार बना रहे। उसके लिए नैतिक और आचरण के मापदण्ड कहे जाते हैं। श्रीमद् भागवत में मनुष्यों की ऐसी नैतिकताओं तथा आचरणों का कथन किया गया है तथा उनके पालन के लिए विशेष रूप से इंगित किया गया है।

प्राचीन भारतीय समाज में धर्म की प्रतिष्ठा पूर्णरूप से थी। मनुस्मृति में धर्म के जिन अंगों का वर्णन किया गया है। श्रीमद् भागवत में उनका कथन तो है ही अन्य मानवीय सद्गुणों जैसे करुणा, मैत्री आदि के भावों का भी कथन किया गया है।

जहां तक राजनीति और अर्थनीति के सन्दर्भ में श्रीमद् भागवत की विषयवस्तु का प्रश्न है, तो इस सन्दर्भ में भी इस पुराण में पर्याप्त रूप से सामग्री प्राप्त होती है। राजा के लिये आचरण और उसके जीवन के लिए नैतिकता का कथन तो इसलिए विशेष रूप से महत्व का है, क्योंकि इन्हीं की नैतिक मान्यताओं का प्रभाव सामान्य जीवन पर होता है और सामान्य जन के संगठन से ही प्रजा की नीति-अनीति समाज में चलती है।

इस रूप में श्रीमद् भागवत एक ऐसे ग्रन्थ के रूप में है जिसमें व्यक्ति और समाज के लिए नीतिपरक तथा आचार परक कथन पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं तथा इनसे पर्याप्त रूप से प्रकाश पाया जा सकता है।

.....................o.......................

तृतीय अध्याय

(श्रीमद् भागवत में लोकनीति तथा आचार)

(क) श्रीमद् भागवत की समाज व्यवस्था-

वर्णव्यवस्था , आश्रम व्यवस्था

कर्म सिद्धान्त , पुनर्जन्म , संस्कार

(ख) पारिवारिक सम्बन्धों का नैतिक तथा आचारात्मक स्वरूप-

माता-पिता , पति-पत्नी , पुत्र-पुत्री

गुरु-शिष्य , अतिथि

(ग) श्रीमद् भागवत की वैयक्तिक नीति तथा आचार-

लोकाचार के सूत्र करुणा, मैत्री आदि

अवगुण-हठ, प्रतिशोध, ईर्ष्या आदि

शरीर, मन, आत्मा की मान्यता का नैतिक दर्शन

तृतीय अध्याय

(श्रीमद् भागवत में लोकनीति एवं आचार)

(क) श्रीमद् भागवत की समाज व्यवस्था-

यह महापुराण एक ऐसा महापुराण है जो समाज के सभी वर्गों के सम्बन्ध में कुछ न कुछ अपना मन्तव्य प्रगट करता है। राजाओं का जीवनवृत उसमें भी आचरण और प्रतिष्ठा प्राप्त राजा और निन्दा के पात्र राजा ऐसे दोनों प्रकार के राजाओं का वर्णन इसमें किया गया है। राज परिवारों के अतिरिक्त इसमें प्रजा के रूप में भी सभी प्रकार की प्रजा का जीवन-व्यवहार वर्णित है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के रूप में सभी का यत्किंचित जीवन-दर्शन श्रीमद् भागवत पुराण में देखनें को मिलता है। लोगों का जीवन किस प्रकार से व्यतीत हो रहा था और समाज के पास रहकर किस प्रकार से कौन नैतिक रूप से तथा कौन अनैतिक रूप से अपना जीवन बिता रहा था इसका संकेत इस पुराण में है। श्री कृष्ण यद्यपि एक अवतार के रूप में इस पुराण में कहे गये हैं, तथापि उन्होंने एक राजपरिवार में जन्म के बाद भी जिस तरह से नन्द के घर रहकर और सामान्य गोपालों के साथ अपना जीवन बिताया, उसे भी समाज का स्वरूप जाना जा सकता है। सहज रूप में तो यह कहा जा सकता है कि यद्यपि यह पुराण श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन कर उसके माध्यम से सामाजिकों के जीवन को ज्ञान तथा भक्ति से संयुक्त करना चाहता है, तथापि आदर्श मनुष्य के रूप में श्रीकृष्ण के चरित्र से मानवीय व्यवहार के सभी पक्षों का अध्ययन भी भली प्रकार किया जा सकता है।

(क) <u>वर्ण व्यवस्था</u>-

इस देश की प्राचीन समाज व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप किसी न किसी भांति से आदिकाल से ही दिखाई देता है। जैसे कि इस देश का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद ही ''ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्'' कहकर जब सृष्टि की उत्पत्ति का संकेत करना चाहता है, तब यही कहता है कि उस ब्रह्म या ईश्वर का जो मुख स्थान है वही ब्राह्मण है अथवा ईश्वर के मुख स्थान से ही ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई है।[१] वेदों से इतना संकेत मात्र लेकर जब उपनिषदें इस सृष्टि के विवेचन में प्रवृत्त हुईं तब उन्होंने कहा कि ब्रह्म ही इस सृष्टि की आदि सत्ता है। वह जब यह इच्छा करता है कि अब उसे एक से बहुत होना है तब वह क्षत्रिय वर्ग की सृष्टि करता है। इन्द्र, वरूण, सोम, रूद्र आदि देव उसी ब्रह्म की आदि शक्तियां हैं और ये सभी शक्तियां क्षत्रिय वर्ग में आती हैं। बाद में वह ब्रह्म, वसु, रूद्र, आदित्य आदि देवताओं की उत्पत्ति का हेतु बनता है जो वैश्य वर्ग के कहे जाते हैं। इसी ब्रह्म से ही इसी क्रम में शूद्र भी उत्पन्न हुए और यही स्वर्ग का देव विधान पृथ्वी का वर्ण विधान हुआ।[२]

श्रीमद्भगवद् गीता तो स्पष्ट रूप से कहती है कि भगवान् ने ही गुण और कर्म के विभाग से चार वर्णों की सृष्टि की है।[३]

....

१- ऋग् १०/९०/१२, यजु. ३१/११, २६/२

२- ई. द्वा. उ., पृ. २८१/२८२

३-चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
भ. गी., पृ. ७५, २५४

स्मृतिकारों में मनुस्मृतिकार की परम प्रतिष्ठा मानी जाती है। इस रूप में यदि मनुस्मृति को उद्घृत करना चाहें तो इस रूप में उद्धृत कर सकते हैं कि वहाँ भी जिस वर्णव्यवस्था का संकेत किया गया है वह वही व्यवस्था है जिसे वेद काल में कहा जा चुका था। मनुस्मृतिकार कहते हैं कि परमात्मा ने मुख, हस्त, जंघाएं तथा पैरों से उत्पन्न वर्णों के लिए ही पृथक्-पृथक् कार्यों का निरूपण किया है।[१]

यह परम्परा आगे भी चली और समाज के स्वरूप निर्धारण में पुराणों ने भी अपना योगदान किया। इसलिए पुराणकारों ने कहा है कि जगत्कर्ता ब्रह्मा के मुख से सत्वगुण प्रधान प्राणियों का , वक्षस्थल से रजोगुण प्रधान प्राणियों का, पैरों से तमोगुण प्रधान प्राणियों का सृजन हुआ। यही बाद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में चार वर्णों में गिने गये।[२]इस रूप में वर्ण व्यवस्था एक पुरानी व्यवस्था है और इसकी परम्परा क्रम से निर्धारित की गई है। जिसमें से सत्व प्रधान होने के कारण अथवा ईश्वर के मुख स्थानीय होने के कारण ब्राह्मण वर्ण को श्रेष्ठ वर्ण के रूप में मान्य किया गया।

....

१- सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाधुतिः।
मुखबाहूरूपजानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत्॥
म. स्मृ., पृ. १७

२- ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम्।
पादोरूवक्षस्यांतो मुखतश्च समुद्गताः॥
यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्माचकार वै।
चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम्॥

वि.पु. (१), पृ. ७९

ब्रह्म. २/३७/५, ३/७२/३५

<u>ब्राह्मण</u> -

ब्राह्मण की श्रेष्ठता और ज्येष्ठता प्राचीन समय से ही स्वीकृत रही है। वेद में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो राजा ब्राह्मण का आदर करता है और दान देकर उन्हें सन्तुष्ट रखता है, वह राजा सदा-सर्वदा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।[१] तैत्तरीय संहिता भी यह संकेत करती है कि ब्राह्मण देवताओं के उस वर्ग में आते हैं जिन्हें प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।[२] ब्राह्मणों में चार ऐसे गुणों का कथन किया गया है, जो विलक्षण है और जिससे ब्राह्मण ब्राह्मणत्व के तेज से मण्डित होता है। ये चार गुण हैं- ब्राह्मण्य, पवित्राचरण, यज्ञ तथा लोकपूजा। ऐसे ब्राह्मण जब संसार को शिक्षा देते हैं तो समाज उन्हें अर्चा, दान, अजेयता तथा अवध्यता प्रदान करता है।[३]

ब्राह्मण की यह श्रेष्ठता बाद के समय में स्वीकार की जाती रही। तब यह कहा गया कि जो ब्राह्मण की हिंसा में प्रवृत्त होता है वह क्षत्रिय अपनी योनि से भ्रष्ट हो जाता है। जो क्षत्रिय यह कर्म करता है, वह पाप का भागीदार बनता है तथा समाज उसे पापी कहता है।[४]

....

१- अप्रतीतो जयति सं धनापि प्रति जन्यान्युतया सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥
ऋग् ४/५०/९

२- तै. सं. १/७/३/१

३- प्रज्ञा वर्धमाना चतुरोधर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्ये प्रतिरूपचर्या
....पच्यमानश्च तुर्भिर्धर्मैः
ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन .... ॥
श. ब्रा. ११/५/७/१

४- ई. ब्रा. उ., पृ. २८१

ब्राह्मण के लिए यह महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य रहा है कि उसे अक्षर ज्ञान हो और वह विद्या से प्रतिष्ठित होवे।[१] इसलिए एक स्थान पर संकेत है कि जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, वह एक हजार गौ प्राप्त करें। एक उपनिषद् यह कहती है कि ब्राह्मण किसी से कभी भी भयभीत नहीं होता है क्योंकि वह ब्रह्म जानने वाला विद्वान होता है। इसी ब्रह्म ज्ञान के बल से उसकी आत्मा सबल होती है।[२] ब्राह्मण का जो सबसे बड़ा गुण है, वह है उसके सत्य पालन करने का गुण। अध्ययन के लिए आश्रम में प्रवेश चाहने वाले के लिए सत्यकाम जाबालि ने जब बिना किसी असत्य के सहारे से अपने परिवार का परिचय दिया था तब ऋषि गौतम ने उससे कहा था कि तुम यथार्थ में ब्राह्मण हो, क्योंकि ब्राह्मण से इतर अन्य कोई ऐसा सत्य नहीं बोल सकता।[३]

श्रीमद्भागवत पुराण में भी ब्राह्मण की ऐसी ही स्थिति का संकेत तब किया गया है जब यह कहा गया है कि भगवान् के स्वरूप की अवधारणा करते हुए यह जानना चाहिए कि इसी भगवान् का मुख ब्राह्मणरूप है।[४]

....

१-तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मनिष्ठा स एता मा उद्वतामिति

ई. द्वा. उ., पृ.३१७

२-ऐ. उ. पृ. ९२

३-छान्दो., पृ. ३८४

४-पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां..........॥
तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपोयज्ञाः सदक्षिणाः।
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च।

भा. म. पु., पृ. ४८७,३९६

श्रीमद्‌भागवत पुराण ब्राह्मण की उसी स्थिति का वर्णन करता है जिसका कथन वेद-शास्त्र और अनेकानेक स्मृतियाँ करती रही हैं। इस पुराण में कहा गया है कि ब्राह्मण जन्म से ही गुरुपद का भागीदार है। वह स्वयं तो संस्कार सम्पन्न होता ही है, समाज के दूसरे वर्ग को भी अनेकानेक संस्कार प्रदान करता है। श्री शुकदेव महाराज ने पुरोहित गर्ग के माहात्म्य वर्णन में यही कहा है कि आप ब्रह्मवासियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप सभी को संस्कार देने में भी सक्षम हैं आप जैसे ब्राह्मण जन्म से ही समाज के गुरु हैं।[१]

ब्राह्मण के लिए यज्ञ, अध्ययन, अध्यापन, दानादि के जो कर्तव्य भारतीय परम्परा में कहे गये हैं, उनका कथन इस पुराण में भी किया गया है। विप्र यज्ञ करें, दान दें, दान ग्रहण करें, अध्ययन करें और अध्यापन में प्रवृत्त रहें। क्योंकि सभी का एक स्वभाव होता है, इसलिए ब्राह्मण अपने स्वभाव के अनुसार अपने कार्य में प्रवृत्त रहे।[२] उसका सवभाव ऐसे कर्मों का है जो कर्म संस्कारित हों और मनुष्य की श्रेष्ठ प्रवृत्ति का परिचायन करते हों।

१- त्वंहि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्तुमर्हसि।
बालयोरनयोर्नृणां जन्मना ब्राह्मणो गुरूः ॥
भा. म. पु., पृ. ४९३

२- संस्काराः यदविच्छिन्नाः सद्विजन्मो यो जगादयम्।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम् ॥
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ॥
वही, पृ. ३७६

प्रसिद्ध ग्रन्थकार कौटिल्य ने ब्राह्मण के लिए वर्ण धर्मों का कथन किया है। वे हैं - अध्ययन, अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रहण। इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण के लिए लगभग उन्हीं कर्तव्यों का कथन किया गया है जिनका कथन स्मृतिकारों ने किया है।[१]

श्रीमद्भागवत पुराण में ब्राह्मण के लिए जिन धर्मों एवं कर्तव्यों का कथन है उनके विषय में यह कहा गया है कि ये इस वर्ण के आवश्यक कर्तव्य हैं। उसके कर्तव्यों में वे धर्म भी जोड़ दिए गए हैं जो प्रायः कौटिल्य अर्थशास्त्र में सामान्य धर्म के रूप में कहे गए हैं। वहाँ पर कहा गया है कि शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, शान्ति, आर्जव, ईश्वर-भक्ति, दया, सत्य ये ब्राह्मण की प्रवृत्तियाँ हैं। ब्राह्मण यदि इनका पालन करता है तो वह प्रकृतिवश ऐसा करता है। यह सब करने के लिए उसके ऊपर किसी प्रकार का दबाव नहीं होता है। जैसे अन्य सभी लोग अपने-अपने स्वभाववश अपने कर्तव्य करते हैं , उसी प्रकार ब्राह्मण स्वभाव वश ही इन कर्तव्यों का आचरण करता है। इसी लिए यह कहा गया है कि अपने स्वभाववश जो कर्म किये जाते हैं , वही कर्म श्रेष्ठ होते हैं।[२]

....

१- स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति।

कौ. अ., पृ.१२

२- शमोदमस्तपःशौचं संतोषः शान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥
तेजो बलं धृतिः शौर्य तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यम् ....॥

भा.म.पु.,पृ.७००

क्षत्रिय-

ब्राह्मण वर्ण के पश्चात् महत्वपूर्ण वर्ण के रूप में क्षत्रिय का स्थान आता है। उपनिषद् परम्परा में यह संकेत किया गया है कि ब्रह्म ने अकेले होने पर विभूति युक्त कर्म करने में अपने को असमर्थ पाया, इसलिए सामर्थ्य से युक्त क्षत्रिय की उत्पत्ति की। इस उत्पत्ति के साथ ही यह भी वर्णन किया गया है कि क्षत्रिय से बढ़कर कोई नहीं है क्योंकि राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करते हैं और इसी रूप में ब्रह्म भाव की कल्पना करते हैं।[१]

प्राचीनकाल में यद्यपि ब्रह्म विद्या पर ब्राह्मण का ही अधिकार कहा गया है, तथापि यह भी अनेक स्थानों पर दिखाई देता है कि क्षत्रियों ने भी अनेक विद्याओं का उपदेश किया है। प्रवाहन नाम के एक राजा ने गौतम से यह कहा था कि पूर्व में यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गयी थी। तब सभी क्षेत्रों में क्षत्रियों का ही प्रभुत्व था।[२] ऐसा एक सन्दर्भ एक अन्य स्थान में भी है जिसमें यह वर्णन है कि जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी तरह से ब्राह्मण और क्षत्रिय में चार वेद हैं।[३]

....

१-तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपासते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म।

ई. द्वा.उ., पृ.२८१

२-छान्दो.,पृ ४७९

३-अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋषो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥

प्र.उ., पृ. ३६, हि.स., पृ. ११२

क्षत्रिय रक्षक और हित चिंतक होने के नाते से एक सम्मान जनक वर्ण था। तब जो क्षत्रिय राजपद पर आसीन होते थे, उनकी सम्पत्ति प्राय: परार्थ होती थी और वे दान देकर सत्पात्रों को उपकृत करते रहते थे। राजा जनक का नाम इस सन्दर्भ में प्राय: लिया जाता है जो सहस्रों गायों का दान ऋषियों को करते रहते थे।[१] उन्होंने याज्ञवल्क्य को उनके ज्ञान के परीक्षण के फलस्वरूप एक हज़ार गाएँ देने का प्रस्ताव किया था। इसी तरह का गोदान करने का एक प्रस्ताव रैक्व के लिए भी देखा जा सकता है।[२]

क्षत्रिय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराण साहित्य में जो संकेत किये गए हैं उनके अनुसार यह कहा गया है कि इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के वक्षस्थल से हुई है।[३] एक स्थान पर इनके वंशों का परिचय देते हुए यह निरूपण है कि इन क्षत्रियों के प्राचीन वंशों में सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश महत्वपूर्ण थे। श्रीमद्भागवत पुराण क्षत्रियों द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कर्तव्यों का वर्णन करते हुए लिखता है कि क्षत्रियों में शौर्य, वीर्य, धृति, तेज , त्याग, विजय, क्षमा और रक्षा करने का दायित्व होना चाहिए। जब क्षत्रिय इन कर्मों को सम्पादित करता है , तभी वह यथार्थ रूप से क्षत्रिय पद से वाच्य होने का अधिकारी होता है।[४]

....

१-ई. ब्रा. उ., पृ. ३१७, ३२१

२-छान्दो. ४/२/४

३-ब्रह्म. २/५/१०८, वा. पु. ५४/११२

४-शौर्य वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजय: क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम् ॥

भा. म. पु., पृ. ३७६

राजा के लिए जो प्रायः क्षत्रिय होते थे , प्रमुख धर्म पृथ्वी का पालन ही होता था। पृथ्वी का पालन करते हुए राजागण धन्य हो जाते थे। क्योंकि पृथ्वी पर जो यज्ञादि कार्य सम्पन्न होते थे, उनका पुण्य-अंश राजा को मिलता है। अपने पृथ्वी पालन कर्म से ही राजा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।[१]

एक स्थान पर क्षत्रिय की महत्ता का निरूपण इस रूप में हुआ है जिसमें कहा गया है कि भगवती पार्वती जी ने जब अपने एक सौ आठ नामों की गणना कराई तब कहा कि मेरे नामों का स्मरण अन्यों के साथ क्षत्रिय भी करते हैं और इससे उन्हें पुण्य-फल की प्राप्ति होती है। एक दूसरा सन्दर्भ यह संकेत करता है कि सूर्यमण्डल में मरीचिगर्भ नाम से प्रसिद्ध एक लोक है जहाँ अंगिरा के पुत्र पितर के रूप में निवास करते हैं। ये राजाओं के पितर हैं। जो तीर्थादि करके पुण्यफल प्राप्त करते हैं।[२] इस रूप में यदि देखा जाए तो क्षत्रिय वर्ण का महत्त्व अपने आप ही प्रकट दिखाई देता है, जिसे पुराण किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं।

....

१- शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरातस्य च जीविका।
तत्रापि प्रथमः कल्पः पृथिवी परिपालनाम् ॥
धरित्री परिपालने नैव कृत कृत्याः नराधिपाः।
भवन्ति नृपतेरंशा यतो यज्ञादि कर्मणाम् ॥
वि. पु. (१), पृ. ४०३-४०४

२- तथान्ये देवदैत्याश्च ब्राह्मणा क्षत्रियास्तथा।
....॥
पितरो यत्र तिष्ठन्ति हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुतः।
तीर्थाटनकृता यान्ति ये च क्षत्रियसत्तमाः ॥
म. पु. (१), पृ.४१,५१

वैश्य -

सृष्टि के निर्माण में यह कहा जाता है कि इसके मूल में ब्रह्म है किन्तु वह जब सृष्टि का विस्तार करना चाहता है तो उसे ऐसा करने के लिए विश की उत्पत्ति की आवश्यकता होती है। इसी की पूर्ति के लिए ही उसने विश की उत्पत्ति की है। वैश्य वर्ग में वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेवा की गणना की जाती है और इस पर अपना अभिमत व्यक्त करते हुए आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं कि संसार में धनोपार्जन में इन देवताओं की महत्ता होने के कारण ये वैश्य वर्ग में गिने गये हैं। छान्दोग्योपनिषद् में यह कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को द्विजाति में गिना जाता है और उसमें वही जन्म लेता है जिसके आचरण श्रेष्ठ होते हैं।[१]

श्रीमद्भागवत महापुराण में वैश्यों को भगवान् के उरु प्रदेश से उत्पन्न हुआ कहा गया है। वैश्य के लिए भी उस समय के समाज में अन्य वर्णों की भाँति कर्म निर्धारित थे।[२] इसके लिए कहा गया है कि खाद्य पदार्थों का संरक्षण करे, दान देने के लिए उद्यत रहे, यज्ञ कार्य में अपनी रुचि प्रदर्शित करे , विद्याध्ययन में संलग्न रहे तथा अपना प्रमुख कर्म व्यापार का कर्म भी करता रहे।[३]

....

१- छान्दो., पृ ५२९

२- ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रूरङ ध्रिश्रितकृष्णवर्णः।
वैश्यस्तु वार्ता वृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
भा. म. पु., पृ. ९१,३७६

३- पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदंच वैश्यस्य कृषिमेव च॥
म. स्मृ.,पृ. १८

इस महापुराण में जहाँ यह कहा गया है कि वैश्य की वृत्ति वार्ता अर्थात् वैश्यवृत्ति होगी, वहीं पर यह भी कहा गया है कि यह ब्रह्मकुल का अनुगमन करने वाला होगा अर्थात् वैश्य ब्रह्म कुल के प्रति सदा ही आस्थावान रहेगा।[१] जहाँ वार्ता का प्रश्न है तो प्राचीन समय में यह एक विद्या के रूप में स्वीकृत थी, जिसे आचार्य कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड नीति के रूप में गिनाया है।[२]

वार्ता विद्या का विस्तार से परिचय देते हुए आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि कृषि, पशुपालन, वाणिज्य विद्या, वार्ता विद्या है। यह विद्या धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थों तथा सेवक-सेविकाओं को देने वाली उपकारिणी विद्या है।[३]

इस रूप में जब वार्ता का परिचय दिया जाता है और इसे वैश्यों की विद्या कहा जाता है। तब यह ज्ञात होता है कि वैश्य समाज का एक महत्वपूर्ण वर्ण था जो अन्य वर्णों के लिए उपकारी था। अन्य वर्ण एक प्रकार से उसपर आश्रित थे क्योंकि कृषि और व्यापार इसी के हाथ में थे और कृषि तथा व्यापार से ही सम्पूर्ण समाज की जीविका चलती थी। कृषि जीवों के उदरपूर्ति में परम सहायक है तथा वाणिज्य से जीवन का अन्य व्यवहार चलता है।

....

१- वैश्यस्तु वार्ता वृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।

भा. म. पु.,पृ ३७६

२- आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्ड नीतिश्चेति विद्याः।

कौ. अ., पृ. १०

३- कृषिपशुपाल्येवाणिज्याच वार्ता।

धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी।

वही, पृ. १५

शूद्र-

चारों वर्णों में शूद्र को अन्त्य वर्ण कहा जाता है किन्तु इसकी हीनता केवल इसलिए नहीं कही जा सकती है कि यह अन्त्यज है। इसे भी समाज की व्यवस्था संचालित करने के लिए ही ब्रह्म ने उत्पन्न किया है। शूद्रों के देवता के रूप में ''पूषा'' का जहां पर वर्णन आया है वहां पर यह कथन है कि सभी का पोषण किए जाने से यह पूजा के योग्य देवता है , इसलिए इसकी पूजा की जानी चाहिए। यह पूज्य भी इसलिए है क्योंकि अपने शक्ति-सामर्थ्य से यह सभी का पोषण करता है।[१] शूद्रों की उस समय जो गणना की गई थी उसमें रथकार, सेनानी और दास सम्मिलित थे तथा सबसे अधिक अशुभाचरण करने वाले को चाण्डाल कहा जाता है।[२] आचार्य शंकर ने सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जब चाण्डाल का कथन किया , तब उन्होंने कहा कि शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ चाण्डाल पद से वाच्य होता है ।[३]

आचार्य मनु ने जिन कर्त्तव्यों का कथन किया है उनमें शूद्र के लिय मुख्य रूप से एक ही द्विजाति की सेवा और उनकी आज्ञा पालन करना ही कहा गया है ।[४] आचार्य कौटिल्य ने शिल्प, गायन, वादन के कार्यों को भी शूद्र के कार्य कहा है।[५] श्रीमद्भागवत- कार भी शूद्र के लिए यही विधान करते हैं कि यह द्विजाति की सेवा करे और उनकी वृत्ति का अनुगमन करे।[६]

....

१- ई. ब्रा. उ. , पृ. २८१-२८२

२- प्र.भा., पृ. ७१

३- ब्रह्म. ४/३/३२ पर शांकर भाष्य

४- म. स्मृ. , पृ. १८

५- कौ. अ. , पृ १३

६- भा. म. पु., पृ ३७६

आश्रम व्यवस्था-

श्रेय की इच्छा करने वाला जहाँ पहुँचकर श्रम से मुक्त हो जाता है , उसे आश्रम कहा जाता है। अथवा जिस स्थिति या स्थान पर पहुँचकर कोई सम्यक् प्रकार से श्रम कर सके उसे आश्रम कहते हैं। आश्रम जीवन की वह स्थिति है जहाँ पर अपने कर्त्तव्य पालन के लिये पूर्ण रूप से श्रम किया जाये।[१] आश्रम शब्द की इन परिभाषाओं के साथ ही प्राचीन समय में चार आश्रमों का कथन किया गया था। ये चारों आश्रम हैं- गृहस्थ आश्रम, ब्रह्मचर्य आश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम।[२]

भारतीय वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों जैसे वेदों, उपनिषदों आदि में इन आश्रमों के सन्दर्भ में कहा गया है। ऋग्वेद में उस ब्रह्मचारी का कथन है,जो ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करता है। अथर्ववेद में यह कथन है कि आचार्य उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता है क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी।[३]

उपनिषद् कालीन परम्परा भी आश्रमों की इसी स्थिति को स्वीकार करती है और किसी न किसी रूप में चारों आश्रमों का संकेत करती है उपनिषद् परम्परा में धर्म के पालन के लिये आश्रम परम्परा का महत्व स्वीकृत है।[४]

....

१- आश्राम्यन्ते श्रेयोऽर्थिनः पुरुषा इत्याश्रमाः।
आश्राम्यन्त्यत्र अनेन वा।
यद्वा आसमन्तात् श्रमो वा। स्वधर्मसाधनक्लेशात्
वै. सा. सं. , पृ १७५

२- ऋग्. १०/१०९/५

३- आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं वृणुते गर्भमन्तः।
अथर्व. ११/५/३

४- छान्दो., पृ. २१५

ब्रह्मचर्याश्रम -

आचार्य मनु ने ब्रह्मचारी के लिये अनेक व्रतों का कथन किया गया है। इसमें एक वृत्तान्त तो यज्ञोपवीत धारण करने का ही है जिसे उपनयन संस्कार कहा जाता है। ब्रह्मचारी के लिये तब जिन व्रतों का कथन किया था उनमें ये थे कि वह मधु, मांस, गन्ध, माला, स्त्रियों का सम्पर्क, प्राणियों की हिंसा, छत्र धारण, काम, क्रोध, लोभ, गीत-वादन, छूत, अनृत भाषण से दूर रहे। उसे किसी प्रकार का लोभ न हो और न ही वह मन में काम भावना को आने दे। इस रूप में वह अपने लिये कहे गये व्रतों का पालन करे तथा विधि पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता हुआ आश्रम में रहकर विद्याध्ययन में निरत रहे।[१]

श्रीमद्भागवत पुराण में कथन यह है कि जो ब्रह्मचारी है, वह अपने लिये निर्धारित व्रतों में निष्ठा रखता हुआ गुरुकुल में निवास करता हुआ आचार्य के प्रति इस प्रकार का भाव रखे जैसे कोई सेवक अपने स्वामी के प्रति रखता है। वह अपने आचार्य की आज्ञा का पालन भी इसी तरह करे, जैसे कोई सेवक अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करता है।

....

१- वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
अभ्यंगमंजनं चक्षोरूपानच्छत्र धारणम्॥
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथा नृतम्॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥

म. स्मृ. २/१७७-१८०

ब्रह्मचारी अपने शरीर में मेखला तथा अजिनचर्म पहने तथा हाथ में कमण्डलु लिए रहे। कमण्डलु के साथ ही उसके लिए यह विधान भी था कि वह दण्ड और कुश भी धारण करे। ब्रह्मचारी के लिए प्राचीन काल में भिक्षा के विधान की बात कही गई है, इसलिए वह प्रातःकाल के अपने कर्म सम्पादन करने के बाद मध्याह्न में भिक्षाचरण करे तथा जो कुछ भिक्षा में प्राप्त होवे, उसे अपने आचार्य को प्रदान कर देवे। आश्रम के अतिरिक्त वह रात्रि में अन्यत्र कहीं निवास न करे तथा स्वभाव से सुशील हो। उसके मन में आचार्य के प्रति श्रद्धा का भाव हो तथा वह अपनी इन्द्रियों को सदा वश में रखे। कभी भी किसी अवस्था में वह स्त्री से सम्बन्धित बात न करे एवं किसी भी स्त्री की केश सज्जा न करे।[१]

एक अन्य स्थान पर ब्रह्मचारी को दृष्टि में रखकर यह कहा गया है कि स्त्री अग्नि है और घृतकुम्भ के सदृश पुरुष है। इसलिए किसी भी अवस्था में स्त्री तथा पुरुष के सम्पर्क से बचना चाहिए।

....

१- मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून्।
बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम् ॥
सायं प्रातश्चरेदभैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत्।
भुंजीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत क्वचित् ॥
सुशीलो मितभुग् दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च ॥
वर्जयेत् प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रताः।
इन्द्रियाणि प्रमाखीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः ॥
केश प्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यंजनादिकम्।
गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा ॥

भा. म. पु., पृ. ३७७

ब्रह्मचारी के लिए यही विचार कर यह भी कहा गया है कि वह अंजन, माला, गन्धलेपन, अलंकारादि धारण करने से दूर ही रहे क्योंकि ऐसा करने से उसके पतित होने का भय बना रहता है इसलिए ब्रह्मचारी के लिए यही विधान है कि वह निरन्तर उपनिषदादि के अध्ययन में अपने आप को संलग्न रखे।[१]

एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि जन्मोत्तर काल के बाद समय से ब्राह्मण उपनयन संस्कार से संस्कारित होकर अपनी इन्द्रियों का दमन करता हुआ आचार्य कुल में रहकर ब्रह्म विद्या का अध्ययन करे। वह सदा अग्नि कार्य में प्रवृत्त रहे । गो, विप्र, गुरु को आदर देकर पवित्र जीवन जिए और ईश्वर का जप करता हुआ विधिपूर्वक सन्ध्यादि कार्य में लगा रहे। वह अपने आचार्य की सेवा उसी भाँति करे जैसे कोई सेवक अपने स्वामी की सेवा करता है।[२]

....

१- नन्वग्निः प्रमदानां घृतकुम्भसमः पुमान्।
सुतामपि रहो जह्याद् अन्यथा यावदर्थकृत ॥
उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च।
त्रयीं सांगोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम् ॥
भा. म. पु., पृ ३४४

२- द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्या जन्मोपनयनं द्विजः।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः ॥
मेखलाजिनदण्डाक्ष ब्रह्मसूत्र कमण्डलून्।
जटिलोऽधौतद्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत् ॥
सायं प्रातस्पानीय भैक्ष्यं कस्मै निवेदयत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुंजीत संयतः ॥
शुश्रूषमाणं आचार्यं सदेवासीत् नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृतांजलिः ॥
एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः।
विद्यासमाप्यते यावद् विभ्रद् व्रतमखण्डितम् ॥
वही, पृ. ७००

इस आश्रम के सन्दर्भ में एक अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि शिष्य आचार्य के पास रहकर विधिवत अध्ययन करे। वह जितेन्द्रिय हो, धर्मवान् हो और स्वाध्यायशील है।[1] एक पौराणिक सन्दर्भ यह कहता है कि गर्भ अथवा जन्म से आठवें वर्ष की अवस्था में अपने-अपने गृहसूत्र के विधान के अनुरूप यज्ञोपवीत संस्कार कराए और ब्रह्मचारी दण्ड, मेखला, मृग, चर्म धारण कर भिक्षान्न प्राप्त कर वेदाध्ययन करे।[2]एक अन्य स्थान पर यह वर्णन आया है कि विद्या की साधना से ब्रह्मचारी साधु है, इस रूप में ब्रह्मचारी को सदा ही गुरु के हितकारी कार्यों में प्रवृत्त रहना चाहिए।[3] ब्रह्मवैवर्त पुराण में यह कहा गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन करना चाहिए तथा विद्या की समाप्ति पर गुरु को दक्षिणा देकर तुष्ट करना चाहिए।[4] अन्य दूसरा उदाहरण यह कहता है कि ब्रह्मचारी को ब्रह्मांजलि से प्रातःकाल गुरु को नमस्कार करना चाहिए। अपने अध्ययन के प्रारम्भ तथा अन्त में प्रणव का उच्चारण करना चाहिए।[5]

....

१- म. पु. (१),पृ.१३८

२- गर्भाऽष्टमेऽष्टमेवाब्दे स्वसूक्तोक्तविधानतः।
दण्डी च मेखली सूत्री कृष्णाजिनधरो मुनिः॥
भिक्षाहारो गुरुहितो वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥

कू. पु., पृ. ३६५

३- वा. पु., पृ. ९३

४- ब्र. वै. (ब्र.ख.) २४/९

५- ब्रह्मारम्भे अवसाने च पादौ पूज्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्मांजलि स्मृतः॥

भा. पु., १/४/८

गृहस्थाश्रम-

वेद जब पारिवारिक अथवा सामाजिक सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हैं तब वे यह लिखते हैं कि पति और पत्नी परिवार के लिए महत्वपूर्ण हैं इसलिए ये दोनों ही मिलकर रहें।[१] स्त्री का सौभाग्य महत्वपूर्ण है, इसलिए इन्द्र देव कृपा पूर्वक स्त्री को सौभाग्यशालिनी बनावें।[२] पत्नी परिवार के लिए इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उसी से सन्तति चलती है और परिवार में संतति का होना ही परिवार के अस्तित्व की पहचान है।[३]

प्राचीन परम्पराओं में एक भाव यह भी स्वीकृति प्राप्त है कि मनुष्य जन्म से ही तीन ऋणों से ग्रस्त होता है। इन ऋणों में एक ऋण होता है - पितृ ऋण। इस ऋण से व्यक्ति का उद्धार तभी हो पाता है जब वह विवाह करके सन्तान उत्पन्न करे तथा पुत्र रूप में स्वयं भी अपने पूर्वजों का उद्धार करे। पुत्र की परिभाषा में यही कहा गया है कि जो पुं नाम नरक से पितरों का उद्धार करता है वह पुत्र कहा जाता है[४]।

मनुस्मृति में यह कहा गया है कि जब ब्रह्मचारी अपना अध्ययन पूरा कर ले तब अपने आचार्य से अनुमति प्राप्त कर अपने अनुरूप कन्या से विवाह कर लेवे।[५] क्योंकि जिस प्रकार से सभी नदियां और नद सागर की ओर जाते हैं, उसी प्रकार अन्य आश्रम आश्रय लेने के लिए गृहस्थ आश्रम की ओर जाते हैं।

....

१- सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः।
ऋग् १०/८५/२३

२- यथेयमिन्द्रमीढ्वा सुपुत्रा सुभगासति।
वही १०/८५/२५

३- दशस्यां पुत्रानां धेहि पतिमेकादश कृषि।
वही १०/८५/४५

४- यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्।
गो. ब्रा. १/१/२

५- गुरुणानुमतः स्नात्वा सम्वृतो यथाविधिः।
उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णां लक्षणान्विताम्॥
म.स्मृ. ३/४

जिस प्रकार वायु का आश्रय लेकर सभी प्राणी जीवन धारण करते हैं, उसी तरह से गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर अन्य आश्रम जीवित रहते हैं।[१]

पौराणिक कर्मों में गृहस्थाश्रम को ब्रह्मचर्याश्रम के बाद आने वाला दूसरा आश्रम कहा गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि गृहस्थाश्रमी को अत्यधिक विनयी श्रेष्ठकुलोत्पन्न, पति सेवा में निरत रहने वाली स्त्री के साथ विवाह कर अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।[२] गृहस्थाश्रम इसलिए महत्वपूर्ण आश्रम है क्योंकि इसी आश्रम में रहकर सभी प्रकार के पुण्य कार्य किए जाते हैं। स्त्री, पुत्र तथा पौत्र से युक्त घर तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला आश्रम है। गृहस्थाश्रम में उसके पुण्योदय के समय पर ही अतिथियों और पितरों का आगम होता है। गृहस्थाश्रम में निवास करने वाला सदा ही नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्म करके अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है तथा इसी से वह सुखी और सम्पन्न रहता है। गृहस्थ अपने धर्म का पालन करता हुआ यज्ञ, कीर्ति, पुण्य, धन और सुख की प्राप्ति करता हुआ जीवन मुक्त हो जाता है।[३]

आचार्य शुक्र ने गृहस्थ धर्म को उत्कृष्ट धर्म माना है और कहा है कि यह सभी का पालन करने के कारण उत्कृष्ट आश्रम है।[४]

....

१- यथा नदीनदः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम्॥
यथावायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वाश्रमाः॥
म.स्मृ.६/९०,३/७७

२- ब्र. वै. (ब्र. ख.)२४/९

३- वही २३/८-११

४- शु. नी.४/४/२

कूर्म पुराण में गृहस्थाश्रम की विशिष्टता का संकेत उस रूप में किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी विधिपूर्वक स्त्री से विवाह कर विविध यज्ञों का अनुष्ठान करे तथा इसी क्रम में वह संतति उत्पन्न करे। जो बुद्धिमान गृहस्थ है , वह ब्रह्मचारी व्रत का पालन करने के पश्चात् जब तक संतति उत्पन्न न करे , तब तक संन्यासाश्रम में प्रवेश न करे।[१]

इसी प्रकार का मन्तव्य वायु पुराण में भी प्रकट किया गया है और कहा गया है कि चारों आश्रमों का मूलभूत आश्रम गृहस्थाश्रम है। यही कारण है कि इसी आश्रम को लक्ष्य करके ही अनेक प्रकार के व्रत और नियमों का आख्यान किया गया है। विवाह द्वारा पत्नी को स्वीकार करना , अतिथि का स्वागत करना ,यज्ञ सम्पादन करना, श्राद्ध करना आदि व्रत और नियम गृहस्थ के लिए ही विहित हैं।[२] एक सन्दर्भ इस प्रकार का भी दिया गया है जिसमें यह कहा गया है कि ब्राह्मण एक वेद, दो वेद अथवा सभी वेदों का अध्ययन न कर गुरु की आज्ञा प्राप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।[३]

....

१- दारानाहृत्य विधिवदन्यथा विविधैर्मखैः।
यजेदुत्पादयेत् पुत्रान् विरक्तो यदि संन्यसेत् ॥
अनिष्ट्वा विधिवद् यज्ञैरनुत्पाद्य तथात्मजम्।
न गार्हस्थ्यम् ----------------------॥
कू. पु.,पृ. १९

२- चातुर्वर्णात्मकः पूर्वं गृहस्थश्चाश्रमः स्मृतः।
त्रयाणां आश्रमाणां च प्रतिष्ठायोनिरेव च ॥
दाराऽग्नयोऽतिथेय इज्याश्राद्धक्रियाः प्रजाः।
इत्येष वै गृहस्थस्य समासाद् धर्मसंग्रहः ॥
वा.पु., पृ. १५

३- वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि नृपोत्तम्।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥
भा. पु. १/५/२,या. स्मृ. १/५२

श्रीमद्भागवत पुराण में गृहस्थ के लिए जो निर्देश किए गए हैं, उनके अनुसार यह कहा गया है कि गृहस्थ गृहोचित कार्यों में संलग्न रहे। वह जो भी कार्य करे उन्हें भगवान् को अर्पित कर दे। वह निरन्तर भगवान् के विविध अवतारों की कथा सुनता रहे। सत्संग से वह इस प्रकार की वृत्ति प्राप्त करे, जिससे उसका मोह स्त्री, पुत्रादिकों से छूट सके। गृहस्थ अपने लिए तथा अपने परिवार के लिए उतना ही अर्जित करे जितने से उसका निर्वाह हो सके। इससे अधिक एकत्रित करने को ''स्तेय'' कहा जाता है और ऐसा व्यक्ति दण्ड का अधिकारी होता है। गृहस्थ को चाहिए कि वह अपने जीवन के लिए धर्म, अर्थ, काम की उपयोगिता समझे तथा विधि पूर्वक किए गए कर्मों से कैसे त्रिवर्ग की प्राप्ति की जा सकती है, इसका विचार करता रहे। गृहस्थ का यही धर्म नहीं है कि वह जो अर्जित करे, उसे केवल अपने उपयोग में ही न लावे, अपितु उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह जो अर्जित करे उसके एक अंश से अतिथि, देवताओं एवं पितरों की सेवा करे।[१]

....

१- गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रिया : कुर्वन् गृहोचिताः।
यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्॥
ज्ञातयः पितरौ पुत्राः भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदते निर्ममः॥
दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युत निर्मितम्।
तत् सर्वमुपभुन्जान् एतत् कुर्यात् स्वतोबुधः॥
यावत् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यावद् दैवोपपादितम्।

भा. म. पु., पृ. ३८०

<u>वानप्रस्थ-</u>

याज्ञवल्क्य स्मृति में यह कहा गया है कि जो अपने जीवन में कठोर नियमों का पालन करते हुये वन में निवास करते हैं, वे वानप्रस्थी हैं।[१] कहा यह गया है कि जब गृहस्थाश्रम में रहते हुए बाल पक जावे, त्वचा ढीली पड़ जाए, तब व्यक्ति को चाहिए कि वह विषय भोगों का परित्याग कर दे। स्त्री को अपने पुत्रों के संरक्षण में देकर अथवा उसको अपने साथ में लेकर वन में चला जावे। वहां पर जाकर नियमित रूप से अग्नि में हवन करने का कार्य करे। वहां पर रहता हुआ वानप्रस्थी शीतादि ऋतुओं से उपराम रहे और शरद, वसन्त आदि ऋतुओं में भी अग्निहोत्र का कार्य करता रहे। उसके लिए यह भी विधान है कि उसे वन मे कन्द-मूल-फल आदि जो भी प्राप्त होवे, उसी से वह अपनी जीविका चलावे। किसी प्रकार का पका हुआ अन्न न ग्रहण करे। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य और अग्नि के पास रहकर तपे तथा हेमन्त ऋतु में जल में खड़े होकर तपस्या करे। निरन्तर स्वाध्याय में लगा रहे एवम् मित्रता की भावना रखकर सभी के प्रति कृपा का भाव रखे।[2]

....

१- वने चकर्षेण नियमेन च तिष्ठतीति चरतीति वानप्रस्थ :।

या. स्मृ. ३/४५ पर मिताक्षरा।

२- गृहस्थस्तु यदा पश्येत् बलीपतितमात्मना।
अपत्यस्यैव चापत्यंतदारण्यं समाश्रयेत्॥
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा।
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्नि परिच्छदम्॥
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥
ग्रीष्मे पंचतपास्तुस्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासस्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयन्तपः॥

म. स्मृ., पृ. २२२-२२६

प्राचीन सन्दर्भों का अवलोकन करने पर यह विदित होता है कि तब सम्भवतः वानप्रस्थ शब्द के लिए वैरवानस शब्द का प्रयोग भी किया जाता था।[१]

वेद में भी इस शब्द का प्रयोग मन्त्र द्वारा ऋषियों के लिए हुआ मिलता है।[२] एक उपनिषद् में अरण्य में निवास करने वाले तपस्वियों के लिए तपस्वी शब्द का प्रयोग किया गया है।[३]

पुराण साहित्य आश्रम व्यवस्था का विस्तार से वर्णन करते हैं। एक स्थान पर यह कहा गया है कि व्यक्ति अपनी आयु के तृतीय भाग में भार्या सहित वन में प्रवेश करे अथवा जब अपने पुत्र को देख ले और शरीर जर्जर हो जावे तब पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में देकर वानप्रस्थी हो जावे। वहाँ पर व्यक्ति संयत आहार वाला होकर निरन्तर अग्निहोत्र का कार्य करे, पवित्र मुनि अन्नों से अग्निहोत्र का कार्य करे और उसी से अवशिष्ट अन्न का भोगकर अपनी जीविका चलावे। वह वन में रहता हुआ ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करे तथा असत्यभाषण का परित्याग कर दे। पूर्व संचित पदार्थों का भी परित्याग करके तीनों काल की संध्या करे। मृगचर्म, उत्तरीय, यज्ञोपवीत धारण करे और अग्नि प्रतिष्ठा में संलग्न रहे। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक होने पर ही भिक्षा की कामना करे।[४]

....

१- ध.इ.(१), पृ.४८२

२- ऋग् ९/६६

३- तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यो चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्यात्मा॥
मु.उ., १/२/११

४- कू. पु., पृ.३४३/३४५

कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम् में वैखानस का प्रयोग ब्रह्मचारी के लिए किया है , यद्यपि वे वनवासी थे। क्योंकि वन में रहने के कारण ही वानप्रस्थी के लिए वानप्रस्थ आश्रम की कल्पना है।[१]

भविष्य पुराण में गुणशेखर के पुत्र धर्मराज और धर्मवल्लभ के संवादों में वानप्रस्थ धर्म का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार वहाँ पर धर्मानन्द और कर्मानन्द का उल्लेख है और साथ में यह भी कहा गया है कि कलियुग में वानप्रस्थ का कोई योगदान नहीं है।[२]

श्रीमद्भागवत महापुराण में वानप्रस्थ आश्रम का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है और वानप्रस्थ आश्रम के निवासी को किस प्रकार से अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए इसका कथन विस्तार से किया गया है। जैसा संकेत स्मृतियों में है, वैसा ही कथन लगभग श्रीमद्भागवत पुराण में भी है। वहाँ पर यह कथन है कि वन में निवास करने वाले को चाहिए कि वह अपनी आयु के तीसरे भाग में वन में निवास करे। इस अवस्था में वह वन में प्राप्त होने वाले कन्द, मूल, फलों का आश्रय ले और अपनी पत्नी को पुत्रों के साथ संरक्षण में छोड़ दे। वल्कल वस्त्र धारण करे तथा तृण, पर्ण और अजिन धारण कर जीवन व्यतीत करे।[३]

....

१- म. पु. अनु., पृ.३०५,अ.भा. , पृ. ३३

२- वानप्रस्थे महाराज स धर्मानन्दकोऽधमः।
कर्मकाण्डेन चानन्दः सत्यधर्मः स वै स्मृतः॥
वानप्रस्थः कलौ नास्ति।
म. पु. ३/२/११,वा.पु.पृ. १४-१५, म. पु.३/३/७

३- वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्या न्यस्य सहैव वा।
वसीत वल्कलं वासः तृणपर्णा जिनानि च॥
भा. म. पु. , पृ. ७०१

वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वाले के लिए यह विधान है कि वह ग्रीष्मकाल में अग्नि से तपे, वर्षाऋतु में जल का सेवन करे, शिशिर में कण्ठ तक जल में खड़े होकर तपस्या करे। वह अग्नि में पकाए हुए अन्न का भोजन करे अथवा समय से जो पका हुआ अन्न अथवा फल हो, उसका भोजन करे। अपने लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो, उन वस्तुओं का चयन स्वयं करे। देश, काल और पात्र के अनुरूप अन्य लोगों के द्वारा प्राप्त सामग्री का चयन स्वयम् करे।[१]

एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वाला व्यक्ति कृषि से प्राप्त होने वाले अन्न का उपयोग अपने लिए करे, किन्तु नए-नए अन्न का संकलन करे एवम् पुराने अन्न का परित्याग कर देवे। वन में जो फल-मूलादि हों, उन्हें संकलित करके उनका ही पुरोडाश बनावे। उस रूप में श्रेय की इच्छा रखने वाला सभी प्रकार के नियमों का पालन करता हुआ वानप्रस्थ आश्रम को पूर्ण करे और इस आश्रम के व्रतों का निर्वाह करे।[२]

....

१- ग्रीष्मे तप्येत पंचाग्नीन वर्षास्वासारषाडजले।
आकण्ठमग्नः शिशिरे एवं वृत्तस्तपश्चरेत्॥
स्वयं संचिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम्।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम्॥
भा.म. पु., पृ.७०१

२- वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान् मुनिसत्तमान्
यानातिष्ठन् मुनिर्गच्छेद् ऋषिलोकमिहांजसा॥
वन्यैश्चरूपुरोडाशान् निर्वपेत् कालचोदितान्।
लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं तु परित्यजेत्॥
वही, पृ. ३७७-३७८

संन्यासाश्रम -

संन्यासाश्रम के सम्बन्ध में प्राचीन समय की कोई स्पष्ट धारणा तो नहीं दिखाई देती है किन्तु वेद में मुनि शब्द का उल्लेख करके इतना स्पष्ट किया गया है कि वे पीले वस्त्र धारण कर वायु का भक्षण कर शरीर से मरणधर्मा होते हुए भी, वायु से ऊपर की स्थिति वाले होते थे।[१]

उपनिषद् साहित्य में अवश्य ही संन्यासाश्रम के विषय में संकेत है, जिसमें यह कहा गया है कि संन्यासी योग से युक्त अमृत पद प्राप्त कर लेते हैं।[२] इसी तरह से अन्य एक स्थान पर यह कहा गया है कि धर्म के तीन स्कन्धों में से तप, व्रत आदि का पालन कर परिव्राजक अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।[३]

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जो पुत्रेषणा, वित्तेषणा तथा लोकेषणा से दूर होते हैं वे भिक्षाचरण कर आत्मज्ञान का सम्पादन कर लेते हैं।[४] आचार्य शंकर तथा अन्य अनेक विद्वानों ने श्वेताश्वतरोपनिषद् के "अत्याश्रमिभ्य:" शब्द की व्याख्या में यह कहा है कि इसका अर्थ चतुर्थाश्रम ही होता है। और इस रूप में यह लगभग स्पष्ट है कि संन्यासाश्रम का परिचय और परम्परा पुरानी है।

....

१- ऋग् १०/१३६/२-३

२- वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था: संन्यासयोगाख्य बुधसत्त्वा: ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता: परिमुष्यन्ति सर्वे ॥
मु.उ. ३/२/६

३- ई. द्वा. उ., पृ. १४७

४- वही,पृ. ३२७

५- श्वे. उ. शां. भा., पृ. २१६

पुराण परम्परा में संन्यास आश्रम का कथन किया गया है और श्रीमद्भागवत पुराण में भी इसका विस्तार से वर्णन है। कूर्म पुराण में संन्यासी के तीन भेदों का वर्णन है। वहाँ पर यह निरूपण किया गया है कि जो सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त है और सुख-दुखादि द्वन्द्वों से रहित है वह संन्यासी है। संन्यासी पूरी तरह से निर्मम होता है और उसे जीवन में किसी प्रकार का भय बाधित नहीं करता। जो नित्य वेद का अभ्यास करता है , जिसे जीवन में इस संसार से अथवा संसार के पदार्थों से किसी प्रकार की आशा नहीं , वह सम्पूर्ण प्रकार से संन्यासी है। संन्यासी किसी प्रकार का संग्रह नहीं करता क्योंकि उसे वर्तमान, भूत और भविष्य बाधित नहीं करते। वह पूरी तरह से जितेन्द्रिय होता है और किसी भी इन्द्रिय के द्वारा उसकी कोई भी कामना पूर्ति की अभिलाषा नहीं होती।[१]

एक अन्य स्थान पर यह निर्धारित है कि संन्यासी एक स्थान पर रुके नहीं तथा दण्ड-कमण्डलु धारण करता हुआ, इतने ही से सन्तुष्ट रहने वाला हो। हिंसा, भय, क्रोध और अहंकार से रहित जो प्राप्त हो जाए, उसे स्वीकार कर ले और स्त्री सम्पर्क से दूर रहे।[२]

....

१- य: सर्व संसर्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भय: ।
प्रोच्यते ज्ञान संन्यासी सर्वात्मन्येव व्यवस्थित: ॥
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं निराशी: निष्परिग्रह: ।
प्रोच्यते वेदसंन्यासी मुमुक्षुर्विजितेन्द्रिय: ॥
यस्त्वग्नीनात्मसात्कृत्वां ब्रह्मार्पणपरो द्विज: ।
ज्ञेय: स कर्मसंन्यासी महायज्ञपरायण: ॥
कू. पु.,पृ.३४६

२- ब्र. वै. पु. सं. ३६/१२०-१२७

श्रीमद् भागवत महापुराण में जिस रूप में संन्यासाश्रम का वर्णन किया गया है वह भी अपने पूर्व परम्पराओं के विचारों को ही व्यक्त करता है। वहाँ पर यह कहा गया है कि भिक्षु अकेले ही संसार में विचरण करे, क्योंकि उसे अपने जीवन में अकेले रहने का ही अभ्यास करना है। उसका भाव यह है कि वह सभी प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव रखे और नारायण के प्रति उसका पूर्ण समर्पण हो। वह यह दृष्टि रखे कि यहाँ क्या असद् है और क्या सद् है। असद् और सद् का विवेकी ही संन्यासी का परम ज्ञान है। यदि सद् और असद् का विवेक संन्यासी को नहीं होगा, तो उसका विवेक भी महत्वपूर्ण नहीं कहा जाएगा। सद् और असद् का विवेक ही ऐसा होता है कि वह इस संसार में यह जान पाता है कि सद् ब्रह्म ही परम सत्ता है और इससे इतर जो भी है, वह परमार्थ सत् नहीं है।[१]

संन्यासी इस ज्ञान से युक्त होकर कौपीन और दण्ड धारण करता हुआ विचरण करे। इसके अतिरिक्त उसके पास और कुछ भी न होवे। वह अकेला है और अकेला ही विचरण करे क्योंकि संग का दोष संन्यासी को वर्जित है।[२]

....

१- एक एव चरेद्‌भिक्षुरात्मारामोऽनाश्रयः।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः ॥
पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ॥
भा. म. पु., पृ. ३७८

२- विभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कोपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डयात्राभ्यां अन्यत् किंचिदनापदि ॥
एकश्चरेन्महीमेतां निः संगं संयतेन्द्रियः ॥
आत्मक्रीड़ आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः
वही. पृ. ७०२

संस्कार -

आचार्य शबर ने अपने शबर भाष्य में लिखा है कि संस्कार वह है जिसके सम्पादित किए जाने से पदार्थ अथवा व्यक्ति कार्य- योग्य हो जाता है।[१] यदि इस रूप में देखा जाए तो प्राचीनकाल से ही इस देश में यह विचार किया गया है कि इस प्रकार की व्यवस्था हो जिससे व्यक्ति संस्कार सम्पन्न हो सके और इसमें विविध गुणों का आधान हो सके। संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से सम्पन्न होता है। जिसका अभिप्राय होता है व्यक्ति के दैहिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले शुद्धि के कार्य। संस्कारों में आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य केवल दैहिक संस्कार न होकर संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार और शुद्धता है। मनुष्य को लक्ष्य में रखकर किए जाने वाले विधिविधान एक ऐसे संस्कार के रूप में कहे जाते हैं जिनके सम्पादन में मनुष्य में अवर्णनीय और विलक्षण गुणों का विकास होता है।[२]

इस सम्बन्ध में एक अन्य आचार्य ने यह लिखा है कि संस्कारों में तीन प्रकार के कार्य होते हैं। एक दोष परिमार्जन का, दूसरा अतिशयाधान का और तीसरा हीनांगपूर्ति का। व्यक्ति जनित उत्पन्न पदार्थों में यदि कोई दोष आ जाये तो उसे दूर करने के लिए दोष परिमार्जन संस्कार है। इसी प्रकार से व्यक्ति तथा वस्तु में उपयोगिता का आधान कर देने के हेतु से जो संस्कार होते हैं, वे अतिशयाधान संस्कार हैं। किसी त्रुटि की पूर्णता करने वाले हीनांगपूर्ति संस्कार हैं[३]।

....

१- जै. सू. ३/१/३

२- आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशय विशेषाः संस्काराः। वी. प्र., पृ. १३२

३- वै. भा. सं., पृ. २०९

प्राचीन समय से ही संस्कारों की जो व्यवस्था थी उसमें अनेक आचार्यों ने संस्कारों के भिन्न-भिन्न संख्या का कथन किया है, जैसे कि आश्वलायन गृह्यसूत्र में विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चूडाकर्म, अन्नप्राशन, उपनयन, समावर्तन तथा अन्त्येष्टि संस्कारों के रूप में ग्यारह संस्कारों का उल्लेख मिलता है।[१] अन्यत्र इन संस्कारो में केशान्त एवम् निष्क्रमण नाम के दो और संस्कारों को जोड़कर इनकी संख्या तेरह बता दी गई है। अन्यत्र कहीं कहीं गोदान एवं दन्तोदामन नामक दो और संस्कारों का कथन है।[२] गौतम धर्म सूत्र में संस्कारों की गणना चालीस की संख्या तक कही गई है।[३] महर्षि व्यास ने गर्भाधान,पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामक्रिया, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चयनक्रिया, कर्णभेद, व्रतादेश, वेदारम्भ, केशान्त स्नान, समावर्तन, विवाहाग्नि, परिग्रह, प्रेताग्नि संग्रह नामक संस्कारों की गणना प्रस्तुत की है।[४]

मनुस्मृति में गर्भाधान,पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामध्येय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, चयनक्रिया, कर्णभेद, उपनयन,केशान्त, व्रतादेश, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, तथा श्मशानकर्म नामक संस्कारों की गणना की गई है।[५] महर्षि याज्ञवल्क्य ने केशान्त संस्कार को संस्कार के रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसे छोड़कर वे सभी के सभी यही संस्कार कहते हैं, जो मनु के द्वारा स्वीकृत हैं।[६]

....

१- हि. सं., पृ. २१-२२

२- वही, पृ. २१-२२

३- षो. वि., पृ. १-३

४- वहीं, पृ. १-३

५- म. स्मृ., पृ. २६-३०

६- या. स्मृ. १-२

मनुष्य जीवन के लिए यद्यपि इन संस्कारों कर पर्याप्त महत्व है तथापि समय-समय पर सम्पादित किए जाने वाले इन संस्कारों को पृथक्-पृथक् रूप से भी कहा जाता है। जैसे जिन संस्कारों का विधान जीव के जन्म के पूर्व किया जाता है उन्हें प्राग् जन्म संस्कार के नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार से जिन संस्कारों का विधान बच्चे की बाल्यावस्था में होता है, वे बाल्यकालीन संस्कार के रूप में कहे जाते हैं। जो संस्कार शिक्षा से सम्बद्ध होते हैं, उन्हें शिक्षाकालीन संस्कार के नाम से कहा जाता है। कुछ ऐसे संस्कार है जो आश्रमीय व्यवस्था से सम्बद्ध होते हैं , ऐसे संस्कारों को आश्रमकालीन संस्कार भी कह दिया जाता था। जो संस्कार जीव के शरीर के त्याग के बाद के हैं, वे संस्कार जीवनोत्तर संस्कार कहे जाते थे।

गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार, तथा सीमन्तोन्नयन संस्कार जीव के जन्म लेने के पूर्व ही सम्पादित किए जाते थे, इसलिए इन्हें जन्मपूर्व संस्कार कहा गया। जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म तथा कर्णभेद संस्कार बाल अवस्था में सम्पादित होने के कारण बाल्यकालीन संस्कार हैं। उपनयन,वेदारम्भ तथा समावर्तन संस्कार शिक्षा से सम्बन्धित होने के कारण शिक्षाकालीन संस्कार हैं। विवाह, वानप्रस्थ एवम् संन्यास संस्कार आश्रमीय व्यवस्था से सम्बद्ध होने के कारण आश्रम कालीन संस्कार कहे गये हैं। अन्त्येष्टि संस्कार ऐसा संस्कार है जो मृत्यु के उपरान्त होता है , इसलिए उसे मरणोत्तर संस्कार कहा जाता है। इन सभी संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य जीवन को संस्कारित करना ही था और इनका सम्पादन विधिपूर्वक तब होता था। श्रीमद्भागवत महापुराण में मुख्य-मुख्य जिन संस्कारों का संकेत है, उनका निरूपण किया जा रहा है।

गर्भाधान संस्कार-

यह संस्कार जीव के जन्म का मूल हेतुक संस्कार है। इसलिए इसका उल्लेख प्राचीन समय से किया जाता रहा है। ''प्रजातन्त्रं मा व्यवच्छेत्सीः'' जैसे वाक्य उस ओर संकेत करते हैं कि हर स्थिति में प्रजा की सतत् परम्परा को बनाए रखना चाहिए और इसका उच्छेद नहीं होने देना चाहिए। प्रजा की सातत्यरूपता तभी सम्भव है जब गर्भाधान संस्कार सम्पादित हो। इसलिए इस वाक्य का प्राचीन संकेत गर्भाधान संस्कार से ही लिया जाना चाहिए।[१]

बृहदारण्यक उपनिषद् में तो एक स्थान पर गर्भाधान संस्कार का विधिवत वर्णन ही किया गया है। वहाँ पर कहा गया है कि जो कोई अपने पुत्र को विख्यात पण्डित, सार्थक वाणी बोलने वाला , सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करने वाला और सौ वर्ष तक जीने वाला चाहता हो, वह विधि पूर्वक गर्भाधान संस्कार करे। वह अपनी पत्नी के साथ संयोग करते समय ''विष्णुयोनिंकल्पयतु'' इस मन्त्र का पाठ करे और इसी रीति से गर्भाधान करे।[२]

पुराण परम्परा ने इसी प्रचीन परम्परा का प्रायः पुनराख्यान किया है। पुराण में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है , जो वेदादि ग्रन्थों में न हो या कि इसके विपरीत हो। इसलिए यह संस्कार मत्स्य और श्रीमद् भागवत पुराण में किसी किसी रूप में मिलता ही है।[३]

....

१- ध.इ., पृ. १८१

२- अथास्या उरू विहाययति विजहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं संधाय त्रिरेनामनुलोभामनुमार्ष्टि विष्णुयोनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टके। ई.द्वा.उ., पृ.४२३

३- म.पु.(११), पृ.१०६४, भा.म. पु., पृ.१३६,१६१

पुंसवन संस्कार -

स्त्री को यह ज्ञान हो जाता था कि वह गर्भवती हो गई है तो उसके बाद दूसरे या तीसरे मास में यह संस्कार किया जाता था। इस संस्कार का फलितार्थ तब माना जाता था कि इससे स्त्री को पुत्र की प्राप्ति होगी। वेद में एक स्थान पर यह सन्दर्भ आया है कि यदि पीपल के वृक्ष पर शमी का पेड़ उत्पन्न हुआ है तो शास्त्र विधि से उसका सेवन करने पर स्त्री के गर्भ से निश्चित रूप से पुत्र की उत्पत्ति होती है।[१] एक अन्य सन्दर्भ इस प्रकार का भी है जिसमें यह कहा गया है कि मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष में आरम्भ होने वाला व्रत पति की आज्ञा से स्त्रियाँ करती हैं। इस व्रत में पूरे विधान से भगवान् लक्ष्मी नारायण का पूजन किया जाता है और इसी क्रम में गिनकर बारह आहुतियाँ दी जाती हैं। यह क्रम इस पूजन के बारह महीने तक चलता रहता है और जब एक वर्ष पूरा हो जाता है तब व्रत के समापन के अवसर पर स्त्री उपवास करती है। दूसरे दिन नियमानुसार पति नैवेद्य अर्पण करता है। ब्राह्मण भोजन के उपरान्त अवशेष स्त्री को प्रसाद रूप में दिया जाता है, जिससे उसे पुत्र की प्राप्ति आवश्यक रूप से होती है।[२] यद्यपि यह अधिक मात्रा में वैवाहिक स्त्रियाँ ही करती थीं किन्तु अविवाहित स्त्रियाँ भी इसे अपनी शुभकामना पूर्ति के लिए करती थीं।

श्रीमद्भागवत पुराण में इस व्रत का संके त उस स्थान पर देखने को मिलता है जहाँ पर महर्षि कश्यप ने दिति के निमित्त इसका कथन किया था। उन्होंने इस व्रत का विधान करते हुए यह उपदेश किया था कि व्रत काल में किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए, असत्य नहीं बोलना चाहिए,अस्पृश्य का स्पर्श नहीं करना चाहिए, नख तथा रोम नहीं काटना चाहिए, दुर्जन व्यक्ति के साथ सम्भाषण नहीं करना चाहिए।

....

१- शमीमश्वरथ आरूढ़स्तत्र पुंसवनं कृतम्।

२- तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वाभरामसि॥ अथर्व ६/११/१

जूठा भोजन नहीं करना चाहिए। मांसाहार से बचना चाहिए, असंयमित होकर वाणी का व्यवहार नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार से महर्षि ने उन नियमों का कथन भी किया है, जिनका पालन व्रत के अवसर पर किया जाना चाहिए। जैसे व्रत के समय पर स्वच्छ वस्त्र पहनने चाहिए, सभी प्रकार के मंगल से युक्त रहना चाहिए, गौ, विप्र, और भगवान् हरि की पूजा करनी चाहिए। व्रतकाल में पति की भली प्रकार से पूजा करनी चाहिए यह परम कर्त्तव्य माना गया है। महर्षि ने तब ऐसा कहा था कि जो इस व्रत को एक संवत्सर तक पूरा करतीं हैं वे ऐसा पुत्र प्राप्त करतीं हैं जिसे इन्द्र भी पराजित नहीं कर सकता है।[१]

एक अन्य पुराण का संकेत इस प्रकार का है जिसमें गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कार का कथन इस रूप में किया गया है कि जो इन संस्कारों के साथ हिरर्ण्यदान की विधि सम्पन्न करता है, वह महा मंगल को प्राप्त करता है एवम् उसके सभी पातक विनष्ट हो जाते हैं।[२]

....

१- न हिंस्याद भूतजातानि न शयेन्नानृतं वदेत्।
न छिन्द्यान्नखरोमणि न स्पृशेद् अमंगलम्॥
नाप्सु स्नायान्न कुप्यते न सम्भाषेत दुर्जनैः।
न वसीताधौतवासः स्रजं च विधृतां क्वचित्॥
नोच्छिष्टं चण्डिकान्नं च न सा मिषं वृषलाहृतम्।
भुंजीतोदक्या दृष्टं पिवेदंजलिना पयः॥
संवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविलुप्तम्।
धारयिष्यसि चेत् तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः॥
भा. म. पु., पृ. ३४५

२- म. पु. (२), पृ. १०६४

जातकर्म तथा नामकरण संस्कार-

प्राचीनकाल से जातकरण संस्कार का नाम मिलता है। वेद में एक स्थान पर यह कहा गया है कि जमदग्नि तथा कश्यप आदि की शक्तियाँ तिगुनी हैं, इसलिए जीवन में हमें तीन गुनी शक्तियाँ प्राप्त होवें।[१] तैत्तरीय संहिता का एक सन्दर्भ यह संकेत करता है कि जब किसी के पुत्र उत्पन्न होवे तब वह वैश्वानर को विविध पात्रों में पकी हुई खाद्य वस्तुओं की बलि प्रदान करे। जिस पुत्र को लक्ष्य करके ऐसा बलि कार्य सम्पादित किया जाता है, वह अपने जीवन में गौरव की प्राप्ति करता है तथा उसके जीवन में धनधान्य की पूर्ति रहती है।[२]

श्रीमद्भागवत पुराण जातकर्म संस्कार का संकेत इस रूप में करता है कि जब पाण्डुवंश में पुत्रोत्पत्ति के समय राजा धौम्य नामक विप्र को बुलाकर जातक का संस्कार सम्पन्न कराते हैं, वहां पर यह लिखा गया है कि इस संस्कार के अवसर पर वहाँ विप्रों को गोदान किया गया, स्वर्णदान किया गया, हस्तिदान किया गया और भूमिदान भी किया गया। इस प्रकार दान पाकर विप्र प्रसन्न हुए और उन्होंने पौरव वंश के श्रेष्ठ होने की मंगलकामना की।[३]

....

१- त्रयायुषं जमर्दग्नेः कश्यपस्य त्रयायुषम्।
यद् देवेषु त्रयायुषम् तन्नो अस्तु त्रयायुषम्॥
यजु. ३/६२

२- तै. सं. २/२/५/३-४

३- तस्य प्रीतिमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः।
जातकं कारयामास वाचियत्वा च मंगलम्॥
हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वदान्।
प्रादात्वन्नं च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवत्॥
भा. म. पु., पृ. ७१

एक अन्य स्थान पर इस प्रकार का संदर्भ दिया गया है जिसमें कहा गया है कि नन्द के आत्मज ने जब जन्म जिया तब, बाबा नन्द पुत्र के उत्पन्न होने से परम प्रसन्नता की अवस्था को प्राप्त हुए। उन्होंने प्रसन्न होकर यज्ञीय विधियों को जानने वाले, संस्कार सम्पन्न कराने वाले, वेदज्ञ पण्डितों का आवाहन किया और तब पण्डितों ने आकर स्वस्त्यवाचन किया। उन वेदज्ञ पण्डितों ने विधि पूर्वक जातक के जात कर्म संस्कार सम्पन्न कराए। तब प्रसन्न होकर बाबा नन्द ने विप्रों को गौदान किया, अन्नदान किया, रत्न, धन आदि विविध आभूषण भी दान में दिये।[१]

जात कर्म संस्कार के साथ साथ नामकरण संस्कार का संकेत भी प्राचीन समय से मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद में एक स्थान पर यह संदर्भ आया है जब पिता बच्चे की नासिका से निकलने वाली श्वास-प्रश्वास का स्पर्श कर कहता है कि ''हे वत्स! तू कौन है, तेरा नाम क्या है ? हम तेरे नाम को जानते हैं और तुझे सोम के द्वारा तृप्त करते हैं। प्रभु हमें सुन्दर प्रजावाला बनाए। वीरों में हम वीरता के गुणों से सम्पन्न होवें। हमें सभी प्रकार की पोषण की शक्तियाँ प्राप्त होवें।''[२]

....

१- नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महात्मनः।
आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलंकृतः॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै।
कारयामास विधिवद् पितृदेवार्चनं तथा॥
धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलंकृते।
तिलादि नं सप्त रत्नौघशात् कौम्भरावृतान्॥
भा. म. पु., पृ. ४८७

२- कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्यते नामा मन्महि यं त्वा सोमेनाती तृषाम्॥
शु. यज. ७/२९

महर्षि मनु ने मनुस्मृति में यह सन्दर्भ दिया है कि पुत्र के जन्म के दस अथवा बारह दिन पश्चात् तिथि और मुहूर्त की श्रेष्ठता देखकर बालक का नामकरण संस्कार करना चाहिए। इस कर्मकाण्ड की प्रक्रिया में ब्राह्मण का नाम मंगलकारी, क्षत्रिय का नाम बलयुक्त, वैश्य का भयमुक्त एवम् शूद्र का दास नाम वाला नामकरण करना चाहिए।[१]

श्रीमद्भागवत पुराण में श्रीराम तथा श्रीकृष्ण के नामकरण का सन्दर्भ दिया गया है। एक बार जब यदुवंश के पुरोहित वेदज्ञ ब्राह्मण गर्ग जी नन्दगृह गये, तब नन्द ने उनसे कहा कि आप वेदज्ञ और कर्मकाण्ड के ज्ञाता ब्रह्मण हैं आप मेरे इन बालकों के संस्कार करावें और द्विजाति परम्परा के अनुसार इनके नामकरण संस्कार कराएँ। तब उनका नाम रखते हुए कहा कि यह रोहिणी पुत्र है। यह अपने गुणों से सुहृदों को आनन्द देगा तथा इसका नाम राम होगा। क्योंकि इसमें बल की अधिकता है। इसलिए अब इसका नाम बलराम होगा। दूसरा बालक कृष्ण नाम का है। इसका जन्म पूर्व में वसुदेव के यहाँ हुआ था। इसलिए अब इसका नाम वासुदेव होगा।[२]

....

१- नामधेयं दशभ्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥

म. स्मृ., पृ. ३१

२- एवं प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत्।
चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयो : ॥
अयं हि रोहिणी पुत्रो रमयन् सुहृदो गणैः।
आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद् बलं विदुः ॥
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥

भा.म. पु., पृ. ४९३

<u>वेदारम्भ संस्कार -</u>

वेदारम्भ संस्कार भी भारतीय परम्परा में प्राचीन संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। इस संस्कार का प्रारम्भ तब गायत्री मन्त्र के रूप में होता था, तब पूरी की पूरी अध्ययन परम्परा मौखिक थी। और सभी कुछ श्रुति पर आधारित था। एक स्थान पर इस संस्कार का सन्दर्भ इस रूप में प्राप्त है, जिसमें कहा गया है कि एक अन्तेवासी अपने आचार्य का पाठ उसी तरह दुहराता है जैसे एक मेंढक दूसरे मेंढक की वाणी का अनुकरण करता है।[१] इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह कथन है कि जो ब्रह्मचारी तपश्चर्या द्वारा वेद का स्वाध्याय करता है वह पूर्ण विद्यावान होकर इस भूमि पर प्रकाशित होता है।[२]

मनु स्मृति में वेदारम्भ को ब्रह्मचर्य संस्कार के रूप में कहा गया है। इस आश्रम का प्रारम्भ यज्ञोपवीत संस्कार से माना जाता है , जिसमें यह विधान है कि ब्रह्मतेज की इच्छा रखने वाले विप्र पांचवे वर्ष में, बल की कामना करने वाले क्षत्रिय आठवें वर्ष में बालक का यज्ञोपवीत संस्कार करें। ब्राह्मण का सोलह वर्ष तक, क्षत्रिय का बारह वर्ष तक और वैश्य का चौबीस वर्ष तक, गायत्री का अतिक्रमण नहीं होता है।[३]

....

१- ऋग् ७/१०३/५

२- तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठो तपो तिष्ठत्तप्यमानः समुद्रो।
सस्नातो बभुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥
अथर्व ११/५/२६

३- ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।
यज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥
आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥
म. स्मृ., पृ. ३२-३३

अन्य सन्दर्भों में जहां वेदारम्भ का कुछ संकेत है वहां यह कहा गया है कि वेदाभ्यासी ब्रह्मचारी दण्ड धारण करे। मेखला पहने भूमि पर शयन करें। गुरु शुश्रषा करें अपने आहार के लिए भिक्षा की याचना करे। वह दोनों समय संध्यावंदन करे , हवन करे, और किसी भी रूप में प्रमाद न करे। सत्य का आश्रय लेकर श्रद्धापूर्वक गुरु की अर्चना में लीन रहे।[१] वेदारम्भ तथा उपनयन संस्कार अपने आरम्भिक रूप में गुरु और शिष्य के नैकट्‌य के सम्बन्ध का सूचक था।

श्रीमद्भागवत पुराण में इस संस्कार का एक संदर्भ इस रूप में आया है जिसमें कहा गया है कि भगवान् कृष्ण के सभी प्रकार के संस्कार कराये गये थे और बाद में वे संदीपन आचार्य के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए गए थे। बाद में वहाँ पर श्री कृष्ण के सेवा भावना और गुरु भक्ति से आचार्य परम संतुष्ट हुए तथा उन्होंने अपने शिष्यों को सांगोपांग वेदाध्ययन कराया। उन्होंने यजुर्वेद, धनुर्वेद, आन्वीक्षिकी, राजनीति तथा अन्य विद्याओं का अध्ययन कराया।[२]

....

१- दण्डी च मेखली चैव ह्यधःशायी तथा जटी।
गुरुशुश्रूषणं भैक्षं विद्याद् वै ब्रह्मचारिणम्॥
उभे सन्ध्येऽवगाहश्च होमाश्चारण्यवासिनाम्।
अप्रमादो व्यवायश्च दया भूतेषु च क्षमा।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषणं सत्यं च दशमं स्मृतम्॥
वा. पु., पृ १५

२- तयोः द्विजवरः तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः।
प्रोवाच वेदानखिलान् सांगोपनिषदो गुरुः॥
भा. म. पु., पृ. ५६५

समावर्तन संस्कार-

जब कोई ब्रह्मचारी आचार्य कुल में अपनी शिक्षा पूरी कर लेता है तब उसे गृहस्थ आश्रम में अनुमति के समय प्रवेश हेतु यह संस्कार सम्पादित किया जाता था। उपनिषद् परम्परा में इस संस्कार की सूचना इस रूप में है जिस रूप में यह कहा गया है कि आचार्य शिष्य को अंतिम उपदेश देता हुआ कहता है कि सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो, आचार्य के लिए दक्षिणा दो, और प्रजा की परम्परा में उच्छेद मत करो या होने दो। सत्य से प्रमाद मत करो, कुशलता में प्रमाद मत करो, प्राणियों में प्रमाद मत करो, तथा देव कार्य एवम् पितृकार्य में प्रमादी मत बनो।[१]

यह संस्कार इस रूप में शिष्य को जीवन भर अपने शुद्ध आचरण पर चलने का संदेश देता था और इस प्रकार से यह भी संकेत था कि इस प्रकार का जीवन जीकर ही गृहस्थ अपने गृहस्थधर्म का पालन ठीक प्रकार से कर सकता है, यही आचरण करने पर गृहस्थ की अपनी गृहस्थधर्म में प्रतिष्ठा सम्भव है।

....

१. वेदमनूचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मंचर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनम् आहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

तै. उ. २/११

श्रीमद्भागवत पुराण में वैसे तो कई प्रमुख संस्कारों का उल्लेख किया गया है और उनके विधान का कथन हुआ है किन्तु समावर्ततन संस्कार का विधान बहुत विस्तार से अथवा स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया है। फिर भी हम एक सन्दर्भ से ऐसा देख सकते है जिसमें आचार्य प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण को घर जाकर गृहस्थ बनने की आज्ञा देते हैं तथा कहते हैं कि तुम घर जाओ और यशस्वी बनो।

एक स्थान पर यह उल्लेख है कि कृष्ण के गुरु का पुत्र समुद्र में अन्तर्हित हो गया था और उसे लाने के लिए आचार्य ने अपने शिष्य श्रीकृष्ण को आज्ञा प्रदान की थी। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने समुद्र से उस पुत्र को लाकर ब्राह्मण आचार्य को दिया था। इससे वह आचार्य परम प्रसन्न हुए थे तथा उन्होंने आशीष देते हुए कहा था कि वत्स ! तुमनें जो कार्य किया है, वह परम प्रसन्नता का प्रदाता है और मैं तुम्हारे इस कार्य से परम प्रसन्न हूँ। अब तुम अपने घर जाओ , यशस्वी विद्या के अधिकारी बनो। तुम्हारी कीर्ति यशस्विनी हो।[१]

---

१. सम्यक् सम्पादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रियः।
को नुयुष्मद्विधगुरोः कामानवशिष्यते ॥
गच्छन्तं स्वगृहं वीरो कीर्तिमाप्नोति पावनी।
छन्दास्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥
गुरुणैवमनुज्ञातो रथेनानिलरंहसा।
आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै ॥
समनन्दन प्रजाः सर्वाः दृष्ट्वा राम जनार्दनौ।
अपश्यन्तो वह्वहानि नष्टलब्धधना इव ॥

भा. म. पु., ५६६

विवाह संस्कार-

विवाह संस्कार मनुष्य जीवन का एक ऐसा संस्कार है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रशंसनीय है। आदि से ही यहाँ की परम्परा में इस संस्कार का उल्लेख मिलता है और इसकी महत्ता का कथन दिखाई देता है। वेद में यह कहा गया है कि विवाह के समय वर-वधू से कहता है कि हे वरानने ! मैं सन्तान और सौभाग्य की प्राप्ति के लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ। यह कहकर वर-वधू का हाथ अपने हाथ में ले लेता है और अग्नि की परिक्रमा कर उसे स्वीकार करता है।[१]

विवाह की महत्ता और इस संस्कार की विशेषता का अंकन इस रूप में भी किया जा सकता है जिस रूप में यह कहा गया है कि विवाह होने पर पति अपना समर्पण अधिकार और साम्राज्य पत्नी को उसी भाँति सौप देता है जिस प्रकार समुद्र नदियों के मिलने पर नदी रूप होकर मानो स्वयं को नदियों को ही सौंप देता है।[२] विवाह संस्कार के फलस्वरूप ही व्यक्ति को पुत्र/पुत्री की प्राप्ति होती है और भारतीय परम्परा में यह निरूपित है कि सन्तान प्राप्ति के बाद ही व्यक्ति मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। सन्तान प्राप्ति से ही पितृऋण से मुक्त होने का कथन भी किया गया है।

....

१. ऋग् १०/८५/३६

२. यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे पृथां।

एवं त्वं सम्राज्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥

अथर्व. १४/१/४३

प्राचीन ग्रन्थों में विवाह के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया मिलता है, इनमें ब्राह्मण विवाह, देव विवाह, आर्य विवाह, प्राजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गन्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह मुख्यतः कहे गये हैं। इन विवाहों में जो प्रथम चार विवाह हैं, वे ब्राह्मणों के लिए विहित किए गए हैं। देव, आर्ष, प्राजापात्य विवाह, क्षत्रिय के लिए कहे गये हैं तथा राक्षस विवाह वैश्य एवं शूद्र के लिए विहित किए गए हैं।[१]

इन विवाह क्रमों के अतिरिक्त तब सामान्य स्वयंवर एवं विशेष स्वयंवर विवाहों का भी उल्लेख किया गया मिलता है। जब कन्या ऋतुमति हो जाती थी और पिता उसके लिए अनुरूप वर नहीं खोज पाता था, तब कन्या स्वयं ही अपने लिए वर खोज लेती थी। यह विवाह स्वयंवर कहा जाता था, जबकि दूर दूर से आये हुए राजाओं के बीच जो विवाह होता था, वह स्वयंवर विवाह भिन्न प्रकार का होता था।[२]

....

१. ब्रह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥
म. स्मृ. ३/२१, आ. गृ. सू. १/६, या. स्मृ. १/५०

२. चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान् कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकं आसुरं वैश्यशूद्रयोः ॥
पन्थानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्मौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥
म. स्मृ. ३/२४ - २५, या. समृ.१/६४,
आ. रा. वि. काण्ड ११/६५, ३/६३-६४

श्रीमद्भागवत महापुराण में विवाह संस्कार के संदर्भ प्राप्त हैं। इनमें से एक स्थान पर कहा गया है कि रुक्मिणी श्रीकृष्ण का यश सुनकर उनसे विवाह करना चाहती थी किन्तु उसके पिता उसका विवाह शिशुपाल के साथ करना चाहते थे। इससे रुक्मिणी पीड़ित थी, और वह कोई ऐसा मार्ग नहीं देख पा रही थी, जिससे उसका विवाह श्रीकृष्ण के साथ हो सके और विवश होकर उसे शिशुपाल को अपना पति न बनाना पड़े। वह अपने इष्ट की निरन्तर प्रार्थना करती थीं। निरन्तर गौरी, रुद्राणी आदि का यह कहकर आह्वान करती थी कि ये देवियाँ मेरी सहायता करें। इस स्थिति में उसके साथ स्वयंवर के समय जब अन्य राजागण आ जाते हैं तो उसी समय उसे यह भी ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण भी पधारें है। वह यह समाचार सुनकर प्रसन्नता का अनुभव करती है।[१] बाद में उनका विवाह श्रीकृष्ण के साथ होता है और इससे यह ध्वनित होता है कि तब कन्या अपने अनुरूप वर के साथ विवाह करने का विचार कर सकती थी।

....

१. दुर्भगामा न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः।
देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिजा सती॥
एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकुलाकुले॥
एवं बध्वा प्रतीक्षन्त्याः गोविन्दागमनं नृप।
वामउरूर्भुजो नेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिणः॥

भा. म. पु., पृ. ५८५

इसी प्रकार से अन्य स्थानों पर भी विवाह संस्कार को लेकर अनेक प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। एक स्थान पर इस तरह का सन्दर्भ है जिसमें यह कहा गया है कि एक युवती ने अपना परिचय देते हुए राजा युधिष्ठिर से कहा कि महाराज मैं देव सविता की दुहिता हूँ। कालिन्दी मेरा नाम है। मैं इसलिए भगवान् विष्णु की उपासना कर रही हूँ जिससे मुझे श्रीकृष्ण पति रूप में प्राप्त होवें। मैं पिता के द्वारा निर्मित भवन यमुना में निवास करती हूँ।[१]

इसी तरह से एक राजा नयनजित का नाम भी विवाह के सन्दर्भ में आता है जिसने वर के शौर्य परीक्षण के लिए प्रतिज्ञा की थी और भगवान् श्रीकृष्ण ने उसकी वह परीक्षा पूर्ण की थी। तब राजा ने प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण को अपनी कन्या विवाहित कर दी थी। विवाह के उस अवसर पर अनेक प्रकार के मंगल गीत गाए गए थे , शंख की ध्वनि की गई थी , गीत गायन हुआ था और गौ, हाथी आदि का दान हुआ था।[२]

....

१. अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती।
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परमास्थितः॥
नान्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्री निकेतनम्।
तुष्यतां स मे भगवान् मुकुन्दोऽनाथ संश्रयः॥
भा. म. पु. , पृ. ५९६

२. ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः।
तां प्रत्यगृहंणाद्भगवन् विधिवद् सदृशीं प्रभुः॥
राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम्।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः॥

दशधेनुसहस्त्राणि परिवर्हमदाद् विभु :।
स्नेह प्रविलन् हृदयो यापयामास कोसलः॥
वही, पृ. ५९७

अन्त्येष्टि संस्कार -

इस संस्कार का प्रचलन इस देश में प्राचीन काल से था, इस प्रकार के संकेत वेद परम्परा में देखे जा सकते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर मृतक के शव को लक्ष्य करके यह कहा गया है कि जो शव पृथ्वी में निक्षिप्त किए गए हैं अथवा अग्नि को समर्पित किए गए हैं, वे सभी के सभी स्मृतिवान् बने।[१] इस प्रकार से मृतक के लिए प्रेत शब्द का व्यवहार तथा मृतक लोक के लिए प्रेतलोक का कथन भी वहाँ पर प्राप्त होता है। उस समय जब मृतक का संस्कार किया जाता था, तब कहा जाता था कि हे मृतक ! जो पूषा पशुओं की कभी हिंसा नहीं करते, वे तुझे अन्य लोक में ले जावें।[२]

सन्दर्भित पुराण में अन्त्येष्टि संस्कार करते हुए स्थान का अथवा इस संस्कार के विधान का कहीं स्पष्ट वर्णन तो नहीं दिखाई देता है किन्तु संकेत रूप में कहीं कहीं इसका सन्दर्भ खोजा जा सकता है। जैसे कि महाभारत के युद्ध में भीष्म ने जिस प्रकार से अपने प्राणों का उत्सर्ग किया, उसका कथन करते हुए यह कहा गया है कि महर्षि भीष्म ने अपनी आत्मा का आधान अपनी आत्मा में ही किया था और अपनी श्वासों को विराम देकर उपराम हुए थे।[३] इसी प्रकार से जब अपना सम्पूर्ण कार्य पूरा करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्म लोक को गए, तब का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सभी देवों गन्धर्वों की उपस्थिति में भगवान् ने योगधारणा के द्वारा अपने धाम को प्रस्थान किया।[४]

---

१. ऋक् १०/१५/१२

२. अथर्व. १८/०२/५४

३. भा. म. पु, पृ. ६६

४. भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतिरात्मनो विभु :।
संयोज्यात्मनिचात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥
भा. म. पु., पृ. ७२८

<u>कर्मसिद्धान्त तथा पुनर्जन्म</u> -

श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है कि कोई भी संसार का प्राणी ऐसा नहीं है, जो एक क्षण भी बिना कर्म किए रह सके। ऐसा इसलिए है कि सारा का सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश होकर कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।[१]

पुराण परम्परा में तो कर्म, कर्मफल और जीव के द्वारा किए गए कर्मों से ही पुनर्जन्म प्राप्त करने की अनेकों कथाएँ भरी पड़ी हैं।

श्रीमद्भागवत पुराण में उस ब्राह्मण की कथा आती है, जो पुत्रहीन था और जिसे अनेकों प्रयत्न करने के बाद भी पुत्र नहीं हो रहे थे। जब वह पुत्र नहीं पा सका तो उसने आत्महत्या करने का विचार किया किन्तु उसी समय एक मुनि ने उसे बचा लिया। तब, मुनि ने उपदेश करते हुए कहा कि ब्राह्मण! ठीक से विचार करो। अज्ञान का परित्याग करो , कर्म की गति बलिष्ठ होती है और कर्म से व्यक्ति बंधा हुआ है।[२] कर्म की इसी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए, पुत्र के लिए ब्राह्मण का अधिक हठ देखकर उस वैरागी ने कहा था कि आज से एक वर्ष तक तुम्हारी स्त्री सत्य, शौच, दया, दान तथा एक समय का भोजन करते हुए चले तो निश्चित ही पुत्र होगा।[३]

....

१. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
भ. गी. ३/५, भा. म. पु., पृ. ३०९

२. मुंचाज्ञानं प्रजारूपं बलिष्ठा कर्मणा गतिः।
विवेकं तुसमासाद्य त्यज संसारवासनाम्॥
भा. म. पु., पृ. ३७

३. सत्यं शौचं दयादानमेकभुक्तं तु भोजनम्।
वर्षावधि स्त्रियः कार्यातेन पुत्रोऽति निर्मलः॥
वही, पृ. ३७

सुकर्म से सुफल और अपकर्म से कु फल प्राप्त करने का संकेत भी श्रीमद्भागवत पुराण में प्राप्त है। जैसा कि एक स्थान पर नारद जी सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि विद्वान व्यक्ति अपने लिए नियत सुन्दर कर्म सम्पादित करता है। और ऐसा व्यक्ति अपने द्वारा श्रेष्ठ कर्म करता हुआ फिर उन कर्मों के बंधन से बंधता नहीं हैं। जो इसके विपरीत कर्म करता है वह अहंकार के बंधन में बंधकर अपने को कर्म का कर्ता मानने लगता है तब वह गुणहीन हो जाता है और अधः पतन को प्राप्त करता है।[१]

जो जीव जिस रूप में कर्म करता है, वह उसी रूप में अपने मन के द्वारा इस संसार में अपने कर्मों का भोग करता है। कर्म की यह अनिवार्य गति है[१]।

भद्र कर्मों से भद्र फलों की प्राप्ति तथा अभद्र कर्मों से अभद्र फलों की प्राप्ति होती है जो देहधारी प्राणियों के लिए अपरिहार्य है। जो जिस रूप में जितना धर्म पर चलकर अपना कार्य सम्पादित करता है और जिस रूप में अधर्म पर चलकर अपना कार्य पूर्ण करता है, वह उसी रूप में सुफल और कुफल की प्राप्ति करता है। जीव अपने द्वारा किए गए कर्मों का फल इस लोक में पाता है और परलोक में जाकर भी वह उन्हीं कर्मों के फल का भोग करता है।[२]

....

१. य एवं कर्म नियतं विद्वान् कुर्वीत मानवः।
कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते ॥
अन्यथा कर्म कुर्वाणो मनारूढो निबध्यते।
गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यधः ॥
भा. म. पु., पृ. २४१

२. सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघः।
कारिणां गुणसंगोऽस्ति देहवान्न ह्यकर्मकृत ॥
येन यावान् यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः।
स एव तत्फलं भुंक्ते तथा तावदमुत्र वै ॥
वही, पृ. ३०९

पुनर्जन्म के सम्बन्ध की भी अनेकों कथाएं श्रीमद्भागवत में प्राप्त होती हैं। जैसे इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही धुन्धकारी की कथा कही गई है। इस नाम का एक ब्राह्मण अपने कर्म से पतित हो गया था। अर्थ के लोभ में फंसकर स्त्रियों ने उसकी हत्या कर दी थी। बाद में वह प्रेत की योनि में उत्पन्न हुआ था और इसे स्वीकार करते हुए अपने भाई गोकर्ण से कहा था कि हे भ्राता ! मैंने अपने ही दोष से यह योनि पाई है। अकर्मों की मेरे जीवन में कोई भी संख्या नहीं है। मैं लोकहिंसक, लोभी और दुराचारी रहा हूँ। इसलिए इन्हीं कुकर्मों के फलस्वरूप मैं प्रेत हुआ।[१]

एक अन्य स्थान पर राजा नृग की कथा आती है। यह राजा बड़ा दानी था एक बार गाय प्राप्ति के लिए दो ब्राह्मणों में आपस में विवाद हुआ , इस विवाद का निर्णय करने के लिए वे राजा के पास गए। राजा भ्रमवशात् कुछ कह न सका और फल यह हुआ कि राजा से ब्राह्मण कुपित हो गए और राजा को गिरगिट होने का श्राप दे दिया। तब राजा उसी श्रापवश गिरगिट की योनि में प्राप्त हुआ और बाद में उसे उस गिरगिट की योनि से मुक्ति मिली।[२]

....

१. अहं भ्राता त्वदीयोऽस्मि धुन्धकारीति नामनः।
स्वकीयेनैव दोषेण ब्रह्मत्वं नाशितं मया॥
अकर्मणों नास्ति संख्या मे महाज्ञाने विवर्तिनि।
लोकानां हिंसकः सोऽहं स्त्रीर्भिदुःखेन मारितः॥
अतः प्रेतत्वमापन्नो दुर्दशां च वहाम्यहम्।
भा. म. पु., पृ. ४०

२. पूर्वं त्वमशुभं भुञ्जे उताहो नृपते शुभम्।
नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्येः लोकस्य भास्वतः॥
पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः।
तावद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतनं प्रभो॥
वही, पृ. ६१०

(ख) पारिवारिक सम्बन्धों का नैतिक तथा आचारात्मक स्वरूप-

माता-पिता -

परिवार में निश्चित रूप से पिता का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और वह प्रारम्भकाल से ही रहा है। पुराण तो पारिवारिक स्थितियों का चित्रण करते ही हैं, इसलिए श्रीमद्भागवत पुराण में पिता के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। एक पिता ऐसा भी है जो ईश्वर को भी पुत्र रूप में पाकर उसे ईश्वर नहीं मानना चाहता अपितु वह अपने पुत्र के पुत्रत्व स्नेह से ही बंधा रहना चाहता है। कंस के द्वारा बंधन में डाले गए वसुदेव और देवकी के यहाँ ब्रह्मरूप भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म होता है। वे कंस के अत्याचार से पीड़ित और अपने पुत्र की रक्षा के लिए चिन्तित उन दोनों से कहते हैं कि तुम मुझे सामान्य बालक न जानकर साक्षात् परमात्मा मानो। इस रूप में संसार की चिन्ता से मुक्त हो ही जाओगे, परलोक के जीवन में भी तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।[१]

बाद में लोक लीला के लिए अवतरित कृष्ण अपनी रक्षा का उपाय स्वयम् ही वसुदेव को बताते हैं और कहते है कि तुम मुझे बाहर ले चलो और नंद के घर पर पहुँचा दो। उनकी लीला से तब कारागार के कपाट खुल जाते हैं तथा वसुदेव प्रेम पूर्वक उनकी रक्षा करते है।[२]

....

१. युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
चिन्तमन्तौ कृतस्नेहं यास्येथे मद्गतिं पराम्॥
भा. म. पु., पृ. ४८५

२. तया हतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरष्वपि शयितेष्वथ।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिताः दुरत्यया बृहत्कपाटायसंकीलश्रृंखलैः॥
नन्दव्रजं शौरिरूपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुलभ्य निद्रया।
सुतं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्॥
वही., पृ. ४८५

एक ऐसे पिता का सन्दर्भ देखने को मिलता है जो अपने पुत्र के मोह में अधिक मोहित है और जीवन का कर्त्तव्य भी नहीं जानते। वह ऐसा पिता है जो वृद्धावस्था को प्राप्त करने के बाद भी यह नहीं समझ पाता कि इस अवस्था को चतुर्थाश्रम की अवस्था कहा जाता है और इसमें अधिक मोह करना वर्जित होता है। यह अवस्था तो ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति को आगे प्राप्त होने वाले जीवन के विषय में विचार करना चाहिए। किन्तु यह पिता अपने छोटे बालक को एक क्षण भी छोड़ता नहीं है, उसके भोजन कर लेने के बाद भोजन करता है, उसके जल पी लेने के बाद जल पीता है और उसके सोने पर ही सोता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य कोई विचार ही नहीं करता है।[१]

एक और भी पिता इस रूप में दिखाई देते हैं जो पुत्र के प्रति घोर क्रूरता का व्यवहार करते हैं क्योंकि उनका पुत्र उनकी आज्ञा का पालन नहीं करता जिसे पालन करने से उसकी भगवत भक्ति बाधित होती है। प्रहलाद की मति नारायण को समर्पित है, वह समय कुसमय सभी समय केवल नारायण का ही जाप करता और उनकी कृपा पाना चाहता है किन्तु उसके पिता उसे ऐसा करने से रोकते हैं और उसके न रुकने पर उसके प्राण तक ले लेने को तैयार हो जाते हैं।[२]

....

१. स वृद्धहृदयस्तस्मिननर्भके कलभाषिणि।
निरीक्षमाणस्तल्लीन् मुमुदे जरूरोभृशम्॥
भुंजानः प्रापिबन् खादन् बालकस्नेहयन्त्रितः।
भोजयन् पालयन् मूढो न वेदागतमन्तकम्॥
भा. म. पु., पृ. ३०८

२. दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च अभिचारावपातनैः।
भायामिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः॥
हिमवानग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि।
न शशाक सदा हन्तुमवापमसुरः सुतम्॥
भा. म. पु., पृ. ३६०

मातृरूप में माता के वत्सलता के चित्र भी श्रीमद्भागवत पुराण में देखे जा सकते हैं। राजा उत्तानपाद एक समय अपने पुत्र ध्रुव को गोद में लेकर खिला रहे थे, उसकी विमाता को राजा का स्नेह, जो उसकी सौत के पुत्र के प्रति दिखाया जा रहा था,पसन्द नहीं आया। तब ईर्ष्या से भरकर सुरूचि नाम की रानी ने अपने सौतपुत्र से कहा था कि पुत्र ! तुम राजा की गोद में बैठने के अधिकारी नहीं हो, क्योंकि तुम मेरी कोख से उत्पन्न नहीं हुए हो। यदि तुम्हें राज़ा की गोद में बैठना है तो तुम मेरी कोख से जन्म लो। बाद में ध्रुव इसी तिरस्कार से खिन्न होकर तपस्या करने वन चले गये थे तथा बाद में राज्य के अधिकारी बने।[१]

एक माँ दिति के रूप में हैं जो अपने पुत्रों के मारे जाने से बहुत व्याकुल हैं। वह तपस्विनी अपने पति की सेवा करती है और ऐसे पुत्र का वरदान मांगती है जो उसके पूर्व पुत्रों के वध करने वाले का हनन कर सके। वह ऐसा पुत्र पा सके, इसके लिए वह सभी प्रकार के नियम, व्रत और आचार का पालन करती है।[२]

....

१. एकदा सुरूचेः पुत्रमंकमारोप्य लालयन्।
उत्तमं नारुरूक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ॥
तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम्।
सुरूचिः श्रृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ॥
न वत्स नृपतेर्धिष्ठयं भवानरोढुमर्हति।
न गृहीतो मया यत्वं कुक्षावपि नृपात्मज ॥
तपसा आराध्य पुरूषं तस्यैवानुग्रहेण मे।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्।
भा. म. पु., पृ. २००

२. वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्दहणं व्रणे।
अमृत्युं मृतपुत्रांह येन मे घातितौ सुतौ ॥
वही., पृ. ३४५

द्रौपदी एक ऐसी माता के रूप में दिखाई देती है जो करुणा की अप्रतिम प्रतिमूर्ति है। उसके पाँच पुत्रों का वध द्रोणसुत कर देता है। वह विलाप करती है तब अर्जुन अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता हुआ द्रोणसुत को पकड़ लाता है और द्रौपदी के सामने प्रस्तुत कर उसके वध करने के लिए उद्यत होता है किन्तु उसी समय द्रौपदी कहती है कि यह ब्राह्मण पुत्र है, इसका वध मत करो, क्योंकि यह वध करने लायक नहीं हैं। फिर जिस प्रकार से मैं अपने पुत्रों के मारे जाने से विकल हूँ उसी प्रकार से यदि इसका वध कर दिया जायेगा तो इसकी माता भी विकल होगी इसलिए मैं इसके वध किए जाने पर इसकी माता को विकल नहीं करना चाहती।[१]

देवकी भी बहुत खेदमग्न है क्योंकि जेल में बन्द रहते समय उसके पुत्रों का वध कंस ने कर दिया था। वह उनके लिए बहुत दुःखी रहती थी। यद्यपि बाद में श्रीकृष्ण ने कृपा पूर्वक उन पुत्रों से देवकी को मिलाया था। तब वह परम् प्रसन्न हुई थी।[२]

....

१. उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती।
मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरूः ॥
मा रोदीदस्य जननी गौतमी पति देवता।
यथाहं मृत्वत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहु : ॥

भा. म. पु., पृ. ६१

२. तान् दृष्टवा बालकान् देवी पुत्रस्नेह स्नुतस्तनी।
परिष्वज्याङ्कःमारोप्य मूर्धन्यजिघ्रदभीक्षणः ॥
अपायत् स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुता।
मोहिता मायया विष्णोर्यथा सृष्टिः प्रवर्तते ॥
पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदामृतः।

वही, पृ. ६५२

पति-पत्नी -

पति के रूप में पुरुष की भूमिका श्रीमद्भागवत पुराण में दिखाई देती है। सर्वप्रथम एक ऐसे पति का सन्दर्भ दिया जा सकता है जो अत्यन्त दीन-हीन और गरीब है। किन्तु द्वारकाधीश श्रीकृष्ण का परम् सखा है। सुदामा नाम का यह ब्राह्मण सदाचारी, कुलीन और विनयी है। उसकी पत्नी जब उसे श्रीकृष्ण के पास जाने को कहती हैं तो वह तैयार अवश्य होता है, किन्तु अपनी निर्धनता का विचार करके बहुत संकुचित भाव से उनके पास जाता है।[१]

दूसरे पति के रूप में भगवान शिव हैं जो शिवा के द्वारा अपने पिता के यज्ञ में अपने देह का त्याग करने के बाद क्रोधित हो उठते हैं तथा दक्ष का यज्ञ विध्वंस करने का उपक्रम करते हैं।[२] यह उनका पत्नी के प्रति सात्विक प्रेम का भाव है। इसी प्रकार से द्रोणपुत्र जब सोते हुए द्रौपदी के पाँच पुत्रों का वध करता है तो द्रौपदी अत्यधिक खिन्न हो उठती है। अर्जुन पत्नी की खिन्नता दूर करने के लिए अपने पराक्रम का प्रदर्शन कर द्रोण पुत्र को पकड़कर लाते हैं।[३] इसी तरह से पति के रूप में उत्तानपाद, श्रीकृष्ण आदि के विविध रूप देखे जा सकते हैं।

....

१. स एवं भार्यया विप्रो भहुशः प्रार्थितो मृदुः।
अयंहि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्॥
इति संचिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे।
अप्यस्त्युपायनं किंचिद् गृहे कल्याणि दीयताम्॥
भा. म. पु., पृ. ६३८-६३९

२. भवो भवान्या निधनं प्रजापतेरसत्कृताया अवगम्य नारदात्।
स्वपार्षद सैन्यं च तदध्वर्भुर्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे॥
वही, पृ. १९१

३. वही, पृ. ६०

पत्नी के लिए पति ही एक मात्र परम देवता है यह मान्यता इस भूमि की प्राचीन और सनातन मान्यता है। पत्नी के लिए इसी निमित्त से यह कहा गया है कि वह मन, वचन और कर्म से पति की सेवा करे तथा अन्य किसी का ध्यान कभी भी अपने मन में न लावे।[१] इसी मर्यादा के अनुरूप इस पुराण में भगवान् श्रीकृष्ण की अनेकों पत्नियों के विषय में उनके विचार को देखा जा सकता है।

द्रौपदी एक बार अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए श्रीकृष्ण की पत्नियों से यह जानना चहती हैं कि क्या वे अपने पति श्रीकृष्ण को अनन्यभाव से चाहती हैं। क्योंकि वे किसी एक पत्नी के पति न होकर अनेकों स्त्रियों के पति हैं। इसका उत्तर देते हुए रुक्मणी, जाम्बवती, कालिन्दी, भद्रा आदि स्त्रियाँ परम निष्ठा के भाव से श्रीकृष्णको अपना पति स्वीकार करती हैं और इन्हीं के साथ अपने इस जीवन तथा अन्य जीवनों की डोर बँधी रखना चाहती हैं।[२]

....

१. कामैरूच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेणदमेन च।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम्॥

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते॥
भा. म. पु., पृ. ३७७

२. प्रज्ञाय देहकृदनुं निजनाथदेवं सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां पादौ प्रगृह्य मणिमाहममुष्यदासी॥

यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान् निन्ये श्वयूथगमिवात्मवलिं द्विपारिः।
भ्रातृश्च मे अपकुरुतः स्वपुरं श्रियौकस्तस्यास्तु .... ॥

पिता मे मातुलेयाय स्वयमाहूय दत्तवान्।
कृष्णे कृष्णाय तच्चित्तामक्षौहिण्या सखीजनैः॥
वही, पृ. ६४४-६४५

<u>पुत्र-</u>

श्रीमद्भागवत पुराण में पुत्र के रूप में भी पुरुष की अनेकों भूमिकाएँ देखने को मिलती है। वहाँ पर एक पुत्र तो ऐसा है जो अपनी इच्छापूर्ति के लिए पिता को जेल में डाल देता है और दूसरा पुत्र ऐसा है जो पिता की इच्छापूर्ति के लिए स्वयं का यौवन पिता को दे देता है।

पुत्र के इन दो रूपों में कंस और पुरु का जीवन व्यवहार इसी रूप में देखा जा सकता है। कंस राज्य करना चहता है और इसके लिए वह पहले अपनी बहिन देवकी को और उसके पति वसुदेव को जेल में डाल देता है। बाद में वह अपनी इच्छा की पूर्ति में अपने पिता को बाधक मानता है और उन्हें भी जेल में भेज देता है। इतना ही नहीं, वह अपनी बहिन के पुत्र-पुत्रियों का भी वध करने में परहेज नहीं करता है।[१]

पुरु एक ऐसे पुत्र के रूप में है जो अपने पिता की इच्छा पूर्ति के लिए अपना जीवन देने में संकोच नहीं करते हैं। वे जब यह जान पाते हैं कि उनके पिता की वृद्धावस्था है किन्तु वे भोग भोगने से तृप्त नहीं हुए, तो वे अपने पिता को तृप्त करने के भाव से अपना यौवन देने में संकोच नहीं करते हैं। इसे वे पुत्र का उत्तम धर्म मानते हैं।[२]

....

१. देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे।
जातं जातमहन् पुत्रं तयोरंजन शंकया॥
उग्रसेन च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम्।
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः॥
भा. म. पु., पृ. ४८०

२. को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।
प्रतिकर्तुं क्षमोयस्य प्रसादाद् विद्यते परम्॥
इति प्रमुदितः पुरूः प्रत्यगृहणाज्जरां पितुः।
वही, पृ. ४६५

श्रीराम भी पिता की आज्ञा पालन करने में अप्रतिम हैं। वे अपने पिता की आज्ञा मानकर अपने छोटे भाई के लिए राज्य का त्याग कर देते हैं और स्वयम् अपनी पत्नी के साथ वन की ओर प्रस्थान करते हैं। सूर्यवंश में उत्पन्न होने के कारण श्रीराम का चरित्र उनके वंश के अनुरूप ही श्रेष्ठ तथा अनुकरणीय है और वे उसी रूप में यह मानते हैं कि पिता की आज्ञा पालन करने से बढ़कर और कोई दूसरा धर्म नहीं हैं। इसलिए वे विषम परिस्थितियों में भी पिता की आज्ञा का पालन करते हैं।[१]

इसी प्रकार एक पुत्र प्रहलाद का चरित्र भी इस पुराण में महत्त्वपूर्ण ढंग से दिया गया है। प्रहलाद के पिता दैत्यराज होने के कारण अपनी दुष्प्रवृत्तियों से भगवान् विष्णु का विरोध करते थे। प्रहलाद विष्णु विरोध को उचित नहीं मानते और वे निरन्तर विष्णु की पूजा अर्चना में अपने समय का यापन करते हैं। इस स्थिति में उनका पिता उन पर अत्याचार भी करता है किन्तु वे उससे भी विचलित नहीं होते हैं। और आवश्यकता पड़ने पर पिता का विरोध भी करते हैं। वे बार-बार अपने पिता को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश देकर भी अपने पुत्र धर्म का पालन करते हैं।[२]

....

१. यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निर्देश,

स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः।

राज्यं श्रियं प्रणमिनः सुहृदो निवासं,

त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्त संगः॥

भा. म. पु., पृ. ४५१

२. न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै वलं बलिनां चापरेषाम्।

परेऽवरेऽमी स्थिरजंगमा ये ब्रह्मादयो येन वशे प्रणीताः॥

वही, पृ. ३६५

अतिथि-

श्रीमद्भागवत पुराण में अतिथि के लिए बड़ा ही आदर भाव देखने को मिलता है, महाराजा अम्बरीष के पास प्रसिद्ध ऋषि दुर्वासा अपने शिष्यों के सहित अतिथि बनकर पहुंचते हैं। वे राजा से कहते हैं कि मैं भूखा हूँ इसलिए मेरे भोजन की व्यवस्था करो। मैं तब तक स्नान करने के लिए जाता हूँ। राजा ऋषि की व्यवस्था करने लगते हैं किन्तु महर्षि आने में विलम्ब करते हैं और इधर राजा के एकादशी व्रत के पारण का समय निकलने लगता है। अन्ततः राजा अतिथि की महत्ता और व्रत की मर्यादा से जल से ही केवल पारण करते हैं।[१] बाद में यद्यपि महर्षि क्रोध करते हैं और राजा को दण्डित करना चाहते हैं किन्तु राजा के निरपराध होने से स्वयं भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।

इसी प्रकार भगवान् श्रीराम के वर्णन का भी एक रूप इस पुराण में दिया गया है। अज के पुत्र दशरथ और दशरथ के चार पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न होते हैं। इनमें श्रीराम साक्षात् विष्णु के रूप हैं किन्तु अतिथि रूप विश्वामित्र के पधारने पर पिता दशरथ श्रीराम और लक्ष्मण उनकी रक्षार्थ उनके साथ वन में जाने की अनुमति प्रदान कर देते हैं।[२] श्रीराम गुरु के यज्ञ की रक्षा वन में करते हैं।

....

१. तमानर्चातिथिं भूयः प्रत्युत्थानासनार्हणै :।
ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः ॥
अम्भसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम्।
प्राहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितं च तत् ॥
भा. म. पु., पृ. ४४१

२. अजस्ततो महाराजस्तस्माद् दशरथोऽभवत्।
गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः ॥
वही, पृ. ४५१

(ग) श्रीमद्भागवत की वैयक्तिक नीति तथा आचार -

लोकाचार के सूत्र करुणा एवम् मैत्री -

यह पुराण लोकाचार के विविध मानस-भावों का भी यत्र-तत्र संकेत करता है। जैसे कि इसमें मनुष्य के द्वारा दूसरे के संकट को देखकर करुणा का भी उदित होना और उसके कष्ट निवारण के लिए प्रयत्न करना। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही गोकर्ण और धुन्धकारी की कथा आती है जिसमें धुन्धकारी अपने दुर्व्यसनों के कारण मृत्यु प्राप्त कर प्रेत बन जाता है। यद्यपि उसका भाई गोकर्ण उसकी प्रेत योनि से मुक्ति के लिए अनेक विधान करता है किन्तु धुन्धकारी की मुक्ति नहीं होती। तब धुन्धकारी दीन-भावना से अपनी मुक्ति के लिए पुनः पुनः प्रार्थना करता है और गोकर्ण तब करुणा से भरकर उसके लिए श्रीमद्भागवत सप्ताह की कथा सप्ताह पर्यन्त करता है और धुन्धकारी को प्रेत योनि से मुक्त कराता है।[१]

एक सन्दर्भ उस समय का भी दिया जा सकता है जब द्रोणपुत्र द्रौपदी के सोते हुए बच्चों का वध कर देता है और प्रतिक्रिया में अर्जुन द्रोणपुत्र को बांधकर लाते हैं तथा मारने के लिए उद्यत होते हैं। तब द्रौपदी करुणा से भर जाती है और कहती है कि इसको छोड़ दो अन्यथा इसकी माँ भी मेरी तरह से पुत्र वियोग से व्यथित होगी। मै यह नहीं चाहती।[२]

....

१. अहो बन्धुः कृपासिन्धो भ्रातर्मामाशुमोचय।

गोकर्णश्चिन्तयामास तां रात्रिं न तदध्यगात्। भा. म. पु., पृ. ४०

२. मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरूः।

स एष भगवान द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते।

मा रोदीदस्य जननी गौमती पति देवता।
यथाहं मृत्वत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः॥ वही, पृ. ६१

परम कारुणिक दधीचि महर्षि की परदु:खकातरता का कोई दूसरा उदाहरण ही नहीं हो सकता। दैत्यों के उत्पात से ऋषि पीड़ित हैं [१]। भगवान् उन्हें मार्ग दिखाते हैं और कहते हैं कि दधीचि की अस्थियों से ही वृत्रासुर का वध हो सकता है। देवता महर्षि के पास जाते हैं। उन्हें यह जानकर प्रसन्नता होती है कि मेरी अस्थियों से देव रक्षित होंगे। वे देवताओं से कहते हैं कि जो इस अनित्य शरीर से धर्म और यश नहीं प्राप्त करता वह शोचनीय है।[१]

मित्रता का जो स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और सुदामा की कथा में देखा जा सकता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। एक ओर श्रीकृष्ण जो द्वारकाधीश हैं और दूसरी ओर दीन-हीन ब्राह्मण, किन्तु अपनी पत्नी से कहने पर जब सुदामा भगवान् श्रीकृष्ण के यहां पहुंचते हैं तो वे परम प्रसन्न होकर अपने मित्र का आदर करते हैं और बड़े प्रेम से उनसे स्नेह का व्यवहार करते हैं। सुदामा संकुचित होते हैं तथापि श्रीकृष्ण उनके द्वारा लाए हुए तन्दुल ही उपहार रूप में पाते हैं और परम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उस उपहार और उस दीन सुदामा की मित्रता का इतना मान करते हैं कि उसके बदले में उन्हें एक लोक का सर्व सम्पन्न राजा जैसा ऐश्वर्य प्रदान करते हैं।[२]

....

१. योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्।
ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ॥

भा.म. पु., पृ. ३२७

२. प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निज मन्दिरम्।
मणिस्तम्भ शतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥

वही, पृ. ६४१

अवगुण-हठ, ईर्ष्या, प्रतिशोध-

गुण के साथ-साथ मनुष्य में उसी अनुपात में अवगुण भी होते हैं। इस दृष्टि से देखें तो हम यह देख सकते हैं कि श्रीमद्भागवत पुराण के अनेक पात्रों में अनेक प्रकार के दुर्गण भी दिखाई देते हैं। जैसे एक स्थान पर कश्यप और दिति की कथा आती हैं। दिति सायंकाल के अवसर पर काम के वशीभूत हो जाती है और अपने पति कश्यप से कामार्ता होकर संगम की इच्छा करती है। कश्यप समय की अननुकूलता देखकर इसका निषेध करते हैं किन्तु दिति हठपूर्वक उन्हें रति कर्म के लिए विवश करती है। तब कश्यप किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा जानकर असमय ही रति कर्म करते हैं।[१]

एक अन्य सन्दर्भ में यह दिखाई देता है कि प्रहलाद भगवान् विष्णु की सत्ता सर्वत्र स्वीकार कर उनकी भक्ति करते हैं किन्तु उसके पिता हिरण्यकशिपु हठकर उसे विष्णु की भक्ति से विरत करना चाहते हैं। वे हठपूर्वक कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त कौन और जगदीश्वर है। यदि कोई अन्य जगदीश्वर है भी, तो इस स्तम्भ में क्यों नहीं दिखाई देता है, इस प्रकार वह जैसे ही हठ पूर्वक खम्भे में आघात करता है, श्री भगवान् नृसिंह रूप में प्रकट हो जाते हैं।[२]

---

१. सैवं सेविदिते भत्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेवृषलीव गतत्रपा॥
सविदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश ह॥
भा. म. पु., पृ. १४०-१४१

२. यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते॥

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
वही, पृ. ३६५

हठ दर्शन का एक दृष्टान्त बलि और आचार्य शुक्र का भी देखा जा सकता है। बलि के सामने जाकर वामन रूप धारी भगवान जब उससे तीन पग भूमि मांगते हैं तो वह कहता है कि तुम अभी बालक हो। मेरे जैसे राजा और दानी के समक्ष आकर केवल तीन पग भूमि की याचना करने का क्या औचित्य है। तुम उचित और अनुचित का विवेक भी नहीं रखते हो। फिर भी वह वामन की इच्छा को देखकर तीन पग भूमि देने के लिए तैयार हो जाता है। किन्तु बलि के आचार्य शुक्र वामन रूप भगवान् के छल को जान जाते हैं और अपने शिष्य को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि यह छल कर रहा है। यह तीन पगों से त्रिलोक नाप लेगा इसलिए तुम इसे यह दान मत करो। इस पर बलि हठ करता हैं और कहता है कि अब चाहे जो हो मैं अपने कहे हुए वचनों को वापिस नहीं ले सकता।[१]

इसी तरह का एक हठ त्रिशंकु का भी दिखाई देता है। परम्परा यह है कि कोई भी पृथ्वी का निवासी मनुष्य शरीर धारण करके स्वर्ग नहीं जा सकता वह जब भी अपने कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग जाना चाहेगा, तब शरीर त्यागकर ही ऐसा हो सकेगा। किन्तु त्रिशंकु ऐसा हठ करता है जिसे कौशिक पूरा करना चाहते हैं, किन्तु देवता उसे स्वर्ग से च्युत कर देते हैं और अन्ततः त्रिशंकु आकाशमण्डल में ही रह जाता है।[२]

....

१. सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थ कामं यशोवृत्तिं यो न बाधते कर्हिचित्॥
स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम्।
प्रतिश्रुत्य ददामीति .... ॥

यदव्यसावधर्मेण मां बन्धीयादनागसम्।
तथाप्येनं न हिंसिष्ये ब्रह्मतनुं रिपुम्॥
भा. म. पु., पृ. ४२३

२. सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते।
पतितो अवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात्॥
वही, पृ. ४४७

श्रीमद्भागवत में ईर्ष्या का स्वरूप भी देखने को मिलता है। राजा उत्तानपाद के दो पत्नियाँ थी। एक का सुरूचि नाम था और दूसरी का सुनीति। एक बार राजा ध्रुव का लालन कर रहे थे तभी उसकी विमाता ने व्यंग्य से राजा को और ध्रुव को सुनाते हुए ईर्ष्या से कहा था कि यदि तुम राज पद प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें मेरी कोख से जन्म लेना होगा। अन्यथा तुम इस पद के अधिकारी नहीं हो सकते हो। यह कहकर उसने ध्रुव का अपमान ईर्ष्यावश किया था।[१]

इसी प्रकार से महर्षि भरत तथा अजामिल के व्यवहार से मोह का आचरण भी देखा जा सकता है। अजामिल वृद्धावस्था को प्राप्त है किन्तु अपने श्रेय का विचार नहीं कर पाता। वह तो आशीष रूप में प्राप्त बच्चे पर इतना अधिक आसक्त हो जाता है कि अहर्निशि उसी के लालन-पालन में लगा रहता है। इसी क्रम में यमदूत आ जाते हैं और वह यमदूतों से पकड़ा जाता है।[२]

महर्षि भरत योग सिद्ध तपस्वी हैं। संयोग से उनके आश्रम में कहीं से भटकता हुआ मृग शावक आ जाता है। ऋषि भी अपना ज्ञान-ध्यान भूलकर उसी मृग शावक के मोह में पड़ जाते हैं। उनका मोह बंधन उन्हें इतना अधिक बांध लेता है कि जब उनका प्राणान्त होता है तो वे उसी मृग शावक की अन्त-स्मृति के कारण स्वयम् दूसरे जन्म में मृगशावक ही बनते हैं।[३]

....

१. न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति।
न गृहीतो मया यन्त्वं कुक्षावपि नृपात्मज॥
तपसा आराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्॥ भा. म. पु., पृ. २००

२. स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि।
निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जठरो भृशम्॥
भुंजानः प्रपिबन् खादन् बालकस्नेहयन्त्रितः।
भोजयन्वाययन् मूढो न वेदागतमन्तकम्॥ भा. म. पु., पृ. ३०८

३. तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मज.... सहमृगेण कलेवरं मृतमनु न ...... शरीरमवाप॥
वही, पृ. २६९

<u>शरीर मन आत्मा की मान्यता का नैतिक दर्शन</u> -

यद्यपि श्रीमद्भागवत पुराण कथा प्रमुख पुराण है तथापि इसमें सन्दर्भगत रूप मन, आत्मा और शरीर की स्थिति का चित्रण किया गया है। इस मानवीय शरीर के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह अध्रुव और नाशवान् है। जो कोई मोह वश इसे ध्रुव मानता है, वह उस-उस योनि में कर्मवश अनेक शरीरों को प्राप्त करता है और संसार में घूमता है। कभी-कभी मोहवश जीव नरक में पड़कर भी शरीर के मोह से निवृत्त नहीं हो पाता है और न ही इस शरीर को छोड़ना चाहता है। अपनी अपेक्षा अपने पुत्र, पत्नी और सम्पत्ति को अधिक मानता है।[१]

एक अन्य स्थान पर यह विवरण दिया गया है कि माता-पिता से प्राप्त यह देह अपने-अपने कर्म से पशु-पक्षी, मनुष्य और देवताओं की योनियों में भ्रमण करती हैं। बन्धु, मित्र, शत्रु आदि सभी प्रकार से उदासीन होते हैं। जैसे कोई वस्तु बाजार में क्रम से भ्रमण करती हुई यत्र-तत्र घूमती हुई देखी जा सकती है, उसी तरह से यह जीव अपना शरीर धारण करके अनेकानेक योनियों में भ्रमण करता है।[२]

....

१. यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतेः।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि च ॥
जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत्।
तस्यां तस्यां स लभते निवृत्तिं न विरज्यते ॥
नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति।
नारक्यां निवृत्तौ सत्यां देवमाया विमोहितः ॥
भा. म. पु. , पृ. १७४

२. कस्मिन् जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवम्।
कर्माभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ् योनिषु ॥

यथा वस्तूनि व्याख्यानि हेमादीनि ततस्ततः ॥
वही , पृ. ३३८

मन की महत्ता प्रमुखतः इस प्रकरण में इस रूप में कही गई है, जिस रूप में भारतीय परम्परा में कही जाती रही है। मन ऐसा है जिसकी शुद्धि से मनुष्य का जीवन वर्तमान में पवित्र रहता है और भाविकालिक जीवन की शुद्धि तथा पवित्रता की मन की शुद्धि पर निर्भर है। श्रीमद्भागवत में मन की शुद्धि का हेतु इस पुराण की कथा को कहा गया है।[१]

इसी प्रकार से आत्मदर्शन की परम्परा के इस ग्रन्थ में आत्मा की अमरता, एकता, अकर्तृरूपता का कथन भी किया गया है। इसमें यह कहा गया है कि आत्मा में न कोई गुण है और न कोई अवगुण। न आत्मा किसी दोष से दूषित होता है और न ही वह किसी प्रकार के क्रियाफल से प्रभावित होता है। वह तो उदासीन की तरह से होता है और सभी का ईश्वर है।[२]

....

१. कालव्यालमुखग्रासत्रासनिर्णाशहेतवे ।
श्रीमद् भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम् ॥
एतस्माद् परं किञ्चिन्मनः शुद्ध्यै न विद्यते ।
जन्मान्तरे भवेत् पुण्यं तदा भागवतं लभेत् ॥
भा. म. पु. , पृ. २५

२. एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एव सर्वाश्रयः स्वदृक् ।
आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजति प्रभो ॥

नादन्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम् ।
उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः ॥
वही, पृ. ३३८

चतुर्थ अध्याय

(श्रीमद् भागवत में राजनीति एवम् अर्थनीति)

(क) श्रीमद् भागवत का शासक वर्ग

(ख) राजा और उसके गुण-दोष

(ग) शासन की ऋजुता तथा नीति

(घ) राजा-प्रजा का नैतिक एवम् आचारात्मक सम्बन्ध

(ङ) श्रीमद् भागवत में अर्थव्यवस्था

(च) जीविकोपार्जन के साधन

कृषि एवं पशुपालन, उद्योग-धन्धे

(छ) राजनीति एवम् अर्थिक नीति का सामञ्जस्य

चतुर्थ अध्याय

(श्रीमद् भागवत में राजनीति तथा अर्थनीति)

(क) श्रीमद्भागवत का शासक वर्ग

भारतीय शासकों की प्राचीन परम्परा में सूर्यवंशीय और चन्द्रवंशीय राजाओं का बड़ा महत्त्व रहा है और लगभग पूरे काल तक इन्हीं वंशो की परम्परा के राजाओं ने इस भूमि पर शासन किया। यद्यपि इस परम्परा से हटकर और भी शासक इस भूमि पर हुए हैं किन्तु उनका कार्यकाल और कार्यक्षेत्र उतना नहीं रहा, जितना इनका कार्य समय रहा है।

भागवत महापुराण में जब राजा परीक्षित ने महर्षि शुक्र से प्रश्न किया तब उन्होंने सूर्यवंश का वर्णन करते हुए यह कहा कि सर्वभूतों का जो आत्मा है, उसके नाभि से एक स्वर्ण कमल उत्पन्न हुआ। जिसमें सृष्टि के सर्जक ब्रह्मा जी विराजमान थे। उन्हीं ब्रह्मा जी की अग्रिम परम्परा में उनकी मानसिक सृष्टि के रूप में मरीचि, कश्यप तथा विवस्वान् ने जन्म लिया। बाद में जब इस परम्परा में मनु उत्पन्न हुए तो उन्होंने श्रद्धा के साथ दस पुत्रों को जन्म दिया।[१]

....

१. श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परंतप।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि॥
परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः।
स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यन्न किंचन॥
तस्य नाभेः समभवत् पद्मकोशो हिरण्मयः।
तस्मिञ्जज्ञे महाराज स्वयम्भूश्चतुराननः॥
मरीचिर्मनसस्तस्यजज्ञे तस्यापि काश्यपः।
दाक्षण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत् सुतः॥
ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्॥
भा. म. पु., पृ. ४३५

सूर्यवंशीय राजाओं की इसी परम्परा में अम्बरीष , मान्धाता, त्रिशंकु, हरिश्चन्द्र और सगर राजाओं के क्रम का वर्णन श्रीमद्भागवत में किया गया है। इस वंश में उत्पन्न हुए श्रीराम के चरित्र का वर्णन भी श्रीमद् भागवत में किया गया है जो महाराज अज और दशरथ की परम्परा के मुकुटमणि थे। यही परम्परा इक्ष्वाकु वंश की भी परम्परा है,जो निमि के पुत्रों से विदेह राज तक की कही गई है। इस प्रकार से सूर्यवंश एक विस्तृत वंश है और इसमें एक से एक त्यागी और प्रतापी राजा हुए हैं। इस वंश में जहां अद्भुत वीर राजा हुए और जिन्होंने अपनी वीरता से इस भूमि को मण्डित किया,वहीं इस वंश के राजाओं ने अपने त्याग, तप तथा औदार्य से भी इस भूमि को मण्डित किया हैं।[१]

....

१. अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम्।
अव्ययौ च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥
मेनेऽपिदुर्लभंपुंसां सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम्।
विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत् पुमान् ॥
भा. म. पु. , पृ. ४४०

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशंकुरिति विश्रुतः।
प्राप्तश्चाण्डलतां शापाद् गुरोः कौशिक तेजसा ॥
सशरीरो गतः स्वर्गम् अद्यापि दिवि दृश्यते।
पातितोऽवाक् शिरः देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात् ॥
वही, पृ. ४४७

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः।
अंशांसेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ॥
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया।
वही, पृ. ४५१

सूर्यवंशीय राजाओं की ही भाँति चन्द्रवंशीय राज परम्परा का उल्लेख श्रीमद् भागवत में किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि भगवान् के नाभिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा और उनसे उत्पन्न अत्रि इस वंश के आदि पुरुष हैं । अत्रि के अनन्त प्रभाव से उनके नेत्रों से सोम का जन्म हुआ जिसे विप्रों , औषधियों और नक्षत्रों का अधिपति कहा गया । इसने अपने पुरुषार्थ से यज्ञ किया और अपने बल से ही तारा को अपनी पत्नी बनाया । बाद में इसी सोम से बुध की उत्पत्ति हुई । बुध से पुरुरवा का जन्म हुआ, जो कामदेव की भाँति सुन्दर और सुदर्शनीय था । इसी के आकर्षण से आकर्षित होकर उर्वशी ने पुरुरवा के साथ रमण किया ।[१]

यह वंश इसी क्रम से आगे बढ़ता गया जिसमें बाद में आयुः, श्रुतायुः, सत्यायुः, रथ, विजय और जय छह पुत्र उत्पन्न हुए । बाद में राजा जह्नु तथा गाधि का जन्म भी इसी चन्द्रवंश में हुआ । महर्षि जमदग्नि भी चन्द्रवंश के ही हैं जिनके पुत्र परशुराम का क्षत्रियों के संहार से नाम हुआ और त्रेता में जनकपुरी में श्रीराम के साथ जिनका सम्वाद हुआ । आगे यही वंश राजा भरत और रन्तिदेव तक विस्तारित हुआ।[२]

....

१. तस्यदृग्भ्योऽभवत् पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल ।
विप्रौषधि-उडगणानां ब्रह्मणः कल्पितः पतिः ॥
सोऽयजत् रासूर्येन विजित्य भुवनत्रयम् ।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारां नामाहरद्बलात् ॥

ततः पुरुरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः ।
भा. म. पु., पृ. ४५७-४५८

२. ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् षडासन्नात्मजा नृप ।
आयुः सत्यायुः श्रुतायुः .... ॥
वही, पृ. ४५९

(ख)राजा और उसके गुण-दोष -

श्रीमद् भागवत में एक प्रसङ्ग आया है जिसमें यह वर्णन है कि कलिकाल आने पर जब राजा परीक्षित ने धर्म का त्रसित हुआ देखा तो उन्होंने उसका कलि से बचाव किया और उसी सन्दर्भ में महाराज सूत ने कहा कि जिस राजा के राज्य में प्रजा त्रस्त रहती है उसकी कीर्ति और आयु नष्ट हो जाती है। राजा का परम धर्म है कि वह आर्त व्यक्ति की रक्षा करे और जो दण्डनीय है उसे दण्डित करे। ये सभी राजा के गुण हैं और मुख्य रूप से तो राजा का गुण यही है कि वह प्रजा के पालन में तत्पर रहे और अपने स्तर से किसी के साथ अन्याय न होने देवे।[१]

किन्तु समय का और काल स्थिति का कभी-कभी ऐसा दोष दिखाई देता है जिसमें परीक्षित जैसा धर्मज्ञ और विचारवान राजा भी जघन्य अपराध कर देता है। एक सन्दर्भ इसी प्रकार का है जब राजा परीक्षित एक बार वन में घूमते हुए एक ऋषि को समाधिस्थ देखते हैं और उनसे अपनी अवज्ञा जानकर उनके गले में एक मरा हुआ सांप डालकर चले जाते हैं। यद्यपि उनको इसका दण्ड श्राप के रूप में ऋषि पुत्र द्वारा दिया जाता है किन्तु राजा द्वारा ऋषि के साथ किया गया यह व्यवहार राजा का बहुत बड़ा दोष है।[२]

....

१. यस्य राष्ट्रे प्रजा: सर्वास्त्रस्यन्ते साध्वसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः॥
एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः।
अत एनं बधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम्॥
भा. म. पु., पृ. ८१

२. विप्रकीर्णजराच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च।
विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत॥
अलब्धतृणभूम्यादिरंसप्राप्तार्घ्यसूनृतः।

स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा।
विनिर्गच्छन् धनुष्कोट्या निधायपुरभागमत्॥
वही, पृ. ८४

इसी प्रकार अन्याय करने वाले और दुष्ट राजा का अख्यान भी उपलब्ध है जिसमें वह अहंकार के वशीभूत होकर अपने को ही सर्वातिशायी मानता है तथा प्रजा की हित चिन्ता से विरत हो जाता है। राजा वेन एक ऐसा ही राजा है जिसे सम्बोधित करते हुए मुनि कहते हैं कि "महाराज ! जिसके राष्ट्र में भगवान यज्ञ पुरुष की पूजा निरन्तर की जाती है तथा जहाँ पर सभी व्यक्ति अपने-अपने वर्णों और आश्रमधर्मों का विधिवत् पालन करते हैं, वह राजा महाभाग है और विश्वात्मा भगवान् उससे परितुष्ट रहते हैं।" इसके उत्तर में वेन जो कथन करता है वह उसके अहंकार और दोष को ही प्रकट करता है। वह कहता है कि मुनिगण ! आप अधर्म को धर्म की संज्ञा से विभूषित कर रहे हैं। यह इसी प्रकार से है जैसे कोई स्त्री जीविका देने वाले अपने पति की उपेक्षा करके किसी जार की सेवा करने का प्रयत्न करे। जो मूर्ख जन ईश्वर रूप राजा को नहीं जानता है, वह अविवेकी है और इस लोक में वह कल्याण का भागीदार नहीं होता है। विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, वायु, यम, पर्जन्य, धनद, सोम, आदि जितने भी देव हैं, वे सभी राजा में ही निवास करते हैं। इसलिए राजा सर्वदेवमय है और उसी की उपासना करनी चाहिए ।[१]

....

१. यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान यज्ञपूरुषः।
इज्यन्ते स्वेन धर्मेण जनैवर्णाश्रमान्वितैः ॥

अवजानन्त्यमीमूढा नृपरूपिणमीश्वरम्।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च॥

विष्णुर्विरञ्चो गिरीश इन्द्रो वायुर्यमो रविः।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपांपतिः ॥

देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः ॥
भा. म. पु., पृ. २१६

बाद में ऋषियों ने उसके बाहुओं का मन्थन कर पृथु को उत्पन्न किया जो राजा गुणज्ञ, शीलवान और प्रजापालक हुआ और जिसके प्रताप तथा पालन से ही पृथिवी अपने नाम से सार्थक हुई। पृथु के उत्पन्न होने पर मैत्रेय ने उनके गुणों का कथन करते हुए कहा था कि यह ऐसा होगा जो निर्दोष को कभी दण्डित नहीं करेगा और यदि कोई दुष्ट अथवा अपराधी है तो यह उसे अवश्य दण्डित करेगा ; फिर चाहे वह शत्रु हो अथवा अपना पुत्र ही क्यों न हो। इसका राज्यचक्र इस भांति प्रकाशित होगा जैसे सूर्यमण्डल आकाश में बिना किसी व्यवधान के निरबाध होकर विचरण करता है। यह अपनी सम्पूर्ण प्रजा का अपनी पूरी शक्ति से अनुरञ्जन करेगा और इसके अनुशासन में प्रजा किसी भी भांति से कष्ट का अनुभव नहीं करेगी। यह सत्यसन्ध, दृढ़व्रत, बृद्ध सेवक, सभी प्राणियों का आश्रयदाता, मानी, दीनवत्सल, मातृ-पितृ सेवक, परस्त्री के प्रति मातृभाव रखने वाला होगा। राजा पृथु अपने आदर्श चरित तथा उदात्त गुणों से सम्पूर्ण प्रजा का पालन इस प्रकार से करेगा जैसे कोई पिता अपने सामर्थ्य से अपने पुत्रों का पालन करता है।[१]

....

१. एष धर्ममृतां श्रेष्ठो लोकधर्मेऽनुवर्तयन्।
गोप्ता च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम्॥

नादण्डयं दण्डयत्येष आसन्नोऽपि विदूरवत्।
दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः॥

दृढ़व्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्ध सेवकः।
शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः॥
मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्ध इवात्मनः।
प्रजासु पितृवत्स्निग्न्धः किंकरो ब्रह्मवादिनाम्॥
भा. म. पु. , पृ. २१९

राजाओं के गुणदोष से सम्बन्धित एक अन्य सन्दर्भ को यहाँ पर और उदधृत किया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि हिरण्यकशिपु ने अपनी उग्र तपस्या से ब्रह्मा को प्रसन्न कर ऐसे वरदान की याचना की जिससे वह समस्त भूमण्डल में अप्रतिम शक्ति का स्वामी हो गया। उसने अपनी इसी शक्ति के बल पर न केवल पृथिवी मण्डल पर एक छत्र शासन स्थापित कर लिया अपितु देवलोक और इन्द्रलोक के देवता भी उसके प्रभाव से अछूते न रह सके। उसने अपने अक्षय बल से सभी दिशाओं पर अधिकार कर लिया, सभी लोक उसके वशीभूत हो गये। यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, निशाचर आदि उसका यशगान करने लगे। वही सभी वर्णों और आश्रमों के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ भाग का ग्रहण करने लगा। पूरी की पूरी पृथिवी उसके प्रताप से इतनी अधिक अभिभूत हो गई कि बिना किसी विशेष श्रम के वह सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ राजा को देने लगी।

श्रीमद्भागवतकार लिखते हैं कि इतनी अधिक शक्ति पाने के कारण वह अपने ऐश्वर्य में इतना अधिक मदमत्त हो गया कि शास्त्र की मर्यादा को भूल गया तथा ऐसा आचरण करने लगा जिससे प्रजा में त्राहि-त्राहि मच गई। उसके उग्र दण्ड से लोकपाल तक अन्यत्र शरण लेने के लिए विवश हो गए।[१]

....

१. स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन् महासुरः।
देवासुरमनुष्येन्द्रान् गन्धर्वगरुडोरगान्॥

सर्वसत्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित्।
जहारलोकपालानां स्थानानि सह तेजसा॥

अकृष्टपच्या तस्यासीत् सप्तद्वीपवती मही।
तथा कामदुघाद्यौस्तु नामाश्चर्यपदं नभः॥

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम्॥
भा. म. पु., पृ. ३५६

वामन रूप धारण किए हुए भगवान् और दानी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त किए हुए बलि की कथा एक ऐसे राजा के सत्यवादी होने की कथा है जो अपने आप में अश्रुतपूर्व है। भगवान् वामन रूप धारण कर बलि की यज्ञशाला में पहुँचते हैं। राजा भगवान् के बटुक रूप को देखकर परम प्रसन्नता का अनुभव करता है और कहता है कि हे बटुकवर! आपका मेरे यहाँ आना परम आनन्द का कारण है। यह मेरे परम पुण्य का फल है कि आपका आगमन यहाँ पर हुआ है। मैं आपकी कामना की पूर्ति करना चहता हूँ, इसलिए आप यह कहने की कृपा करें कि आपको क्या चाहिए ? धन-सम्पत्ति, राज्य-शासन या और जो भी कुछ आप चाहते हों निःसंकोच मुझसे कहें। मैं उसकी पूर्ति करूँगा।

भगवान् वामन राजा की यह बात सुनकर हँसते हैं और कहते हैं कि राजन् ! मुझे तुमसे बहुत अधिक कुछ नहीं चाहिए। आपसे मैं केवल तीन पग भूमि चाहता हूँ। उसी में मेरा निर्वाह हो जायेगा। इस पर बलि को आश्चर्य होता है और राजा कहता है कि बटुक ! तुम्हारी इस याचना पर मुझे आश्चर्य हो रहा है। केवल तीन पग भूमि का तुम क्या करोगे ? इससे तो तुम्हारा किसी प्रकार का निर्वाह नहीं होगा। इसपर वामन राजा को सन्तुष्टि का रहस्य बताते हैं और अपने द्वारा पूर्व में चाही गई तीन पग भूमि की ही याचना करते हैं ।[१]

....

१. अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम्।
अद्य त्विष्टाक्रतुरयं यद् भगवानागतो गृहान् ॥

गां कांचन गुणवद् धाम मृष्टं तथान्नपेयमुत वा विप्र कन्याम्।
ग्रामान् समृद्धांस्तुरगान् गजान् वा .... ॥

तस्मात् त्वत्तोमहीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात्।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र संमितानि पदा मम ॥

यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्धते।
तस्मात् त्रीणिपदान्येव वृणे त्वद वरदर्षभात् ॥
भा. म. पु., पृ. ४३१-४३२

भगवान् की बात सुनकर जब राजा उनकी इच्छापूर्ति करना चाहते हैं तो आचार्य शुक्र राजा बलि को सम्बोधित कर कहते हैं कि महाराज ! ये बटुक नहीं है। ये तो प्रच्छन्न रूप से आए हुए भगवान् नारायण हैं। इसलिए इनकी इच्छापूर्ति करने से पहले आपको अच्छी तरह से विचार कर लेना चाहिए। वे कहते हैं कि दान करना परम श्रेष्ठ धर्म है किन्तु वही दान धर्म है जिससे अपनी वृत्ति न संकट में पड़ती हो। दान, यज्ञ, तप, कर्म लोक में तभी संचालित होते हैं जब तक इनसे अपनी मूल जीविका विपत्ति में न पड़ती होवे।

राजा बलि अपने आचार्य की इस बात को स्वीकार करते हैं किन्तु वे यह कहकर अपने सत्य को परिनिष्ठित रूप में रखना चाहते हैं कि महाराज ! क्या मैं अपने धन के जाने के लोभ से अपने उस वचन से पीछे हट जाऊँ जो वचन मैंने इस बटुक को दिए हैं ? राजा कहते हैं कि महाराज ! यह अनेकों बार प्रमाणित रूप से कहा जा चुका हैं कि सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। तब भला मैं अपने द्वारा कहे गए सत्य के परिपालन से कैसे हट जाऊँ ? इसलिए आप जैसे गुरुजन जिन शास्त्रों की मर्यादाओं से बंधकर सत्य का पालन करते हुए यज्ञादि कार्य सम्पादित करते हैं उसी सत्य की मर्यादा से बंधकर मैं इसके द्वारा इच्छित भूमि इसे दूँगा और इस प्रकार सत्य का पालन करूँगा।[१]

....

१. न तद् दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते।
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः॥
धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तं इहामुत्र च मोदते॥

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थं कामं यशोवृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित्॥
स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम्।

स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने॥
भा. म. पु., पृ. ४२२-४२३

श्रीमद् भागवत पुराण में ऐसे राजाओं की संख्या अनन्त है जो परमधार्मिक सत्यपालक तथा प्रजा के प्रति सद् व्यवहार करने वाले हैं। वे शास्त्र मर्यादा के अनुरूप आचरण करते हैं तथा ब्राह्मण, विद्वान और तपस्वी का कभी भी अनादर नहीं करते। कभी-कभी तो वे निरपराध होकर भी किसी तपस्वी के द्वारा कष्ट देते हुए देखे जाते हैं किन्तु वे कभी भी किसी तपस्वी/साधक को कष्ट नहीं देते। ऐसा ही एक आख्यान राजा अम्बरीष का है जिनके यहाँ एक समय द्वादशी के दिन अपने शिष्यों के साथ महर्षि दुर्वासा पहुँचते हैं। राजा महर्षि को अपने यहाँ आया देखकर परम प्रसन्नता का अनुभव करता है तथा उनके आतिथ्य के लिए उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित करता है। महर्षि स्नान करने के लिए सरोवर की ओर जाते हैं और कुछ समय पश्चात ही लौटकर आने को कह जाते हैं। इसी समय द्वादशी की तिथि समाप्त होने लगती है और राजा के एकादशी व्रत के पारण का समय पूरा होने लगता है। राजा अपने व्रत भंग होने के भय से जल लेकर पारण कर लेता है और तभी दुर्वासा ऋषि आ जाते हैं। दुर्वासा को जब यह ज्ञात होता है कि राजा ने पारण कर लिया है तब वे राजा को श्राप देने को तैयार हो जाते हैं। वे श्राप से अग्निवृत कृत्या का प्रक्षेप करते हैं किन्तु राजा भगवद् आश्रय लेकर निर्भय होकर खड़े रहते हैं। तब भगवान् राजा की रक्षा करते हैं और दुर्वासा के लिए सुदर्शन चक्र का प्रयोग कर उन्हें विवश करते हैं कि वे अम्बरीष से क्षमा मांगे। दुर्वासा अम्बरीष से क्षमा माँगते हैं। इस स्थिति में भी अम्बरीष न तो किसी प्रकार का अहंकार करते हैं और न ही किसी प्रकार से वे महर्षि का अपमान करने का विचार करते हैं। वे तो उस स्थिति में भी विनम्र बने रहते हैं और अन्त में महर्षि से अनुरोध करते हैं कि आप मेरे इस घर में भोजन करके ही जावें। महर्षि दुर्वासा अम्बरीष की इस इच्छा का सम्मान करते हुए वहाँ पर भोजन करते हैं और राजा की अतिथि सेवा तथा व्रत के प्रति निष्ठा के साथ-साथ उनकी विनयशीलता की भी प्रशंसा करते हैं।

महर्षि दुर्वासा कहते हैं कि राजन्! तुम्हारा यह चरित्र ही तुम्हारी धवल कीर्ति है और इसी यश को गाकर अन्य अनेक जन अपने जीवन में कल्याण प्राप्त करेंगे ।[१]

....

१. अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम् ।
अव्ययं च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥

वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु ।
प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्ठवत् स्मृतम् ॥

तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षाद् दुर्वासा भगवानभूत ।

इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन् मनसाच्युतम् ।
प्रत्यचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः ॥

अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यतः ।
धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः ॥
यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च ।
अदत्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ।

तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम् ।
वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचालपदान्नृपः ॥

ब्रह्मस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम् ।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥

कर्मावदातमेतत् ते गायन्ति स्वः स्त्रियो मुहु : ।
कीर्तिं परमपुण्याश्च कीर्तियिष्यति भूरियम् ॥
भा. म. पु. , पृ. ४४०-४४४

राजाओं के जीवन व्यवहार में एक राजा ऐसा भी है जो अपनी अतृप्त कामना का शिकार है और उसे पूरा करने के लिए वह अपने एक ऐसे दुर्गुण का कथन करता है जैसा कभी सुना ही नहीं गया है। महाराज ययाति की पत्नी देवयानी जब यह देखती है कि उसके पति का मानसिक लगाव अन्य रूपसी शर्मिष्ठा के प्रति है तो वह अपमान से भर जाती है और क्षुब्ध होकर अपने पिता के घर चली जाती है। यद्यपि ययाति अपनी पत्नी का अनुगमन करते हुए उसके पिता शुक्राचार्य के घर तक जाते हैं किन्तु वह प्रसन्न नहीं होती और उसके पिता लम्पट राजा को श्राप देकर उसे वृद्धावस्था प्रदान कर देते हैं। तब चिन्तित होकर राजा अपने पुत्र पुरु से युवावस्था पाता है और सांसारिक भोग में प्रवृत्त होता है। यह राजा का एक बड़ा दुर्गुण प्रकट होता है।[१]

....

१. प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन्।
न प्रसादयितुं शेके पादसंवाहनादिभिः ॥
शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष।
त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥

अतृप्तोऽस्म्यद्यकामानां ब्रह्मन् दुहितरि स्म ते।
व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति ॥

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।
प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद् विन्दते परम् ॥

इति प्रमुदितः पुरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः।
सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुषे नृप ॥

भा. म. पु., पृ. ४६५

(ग) शासन की ऋजुता की नीति -

श्रीमद् भागवत में जिन राजवंशो का वर्णन किया गया है उनमें दो प्रकार के राजा हैं। एक प्रकार के राजा तो वे हैं जो राक्षसेतर कहे जा सकते हैं और दूसरे प्रकार के राजा वे हैं जो राक्षसवंशों से सम्बन्धित हैं। इनमें से जो राक्षसेतर वंशों से सम्बन्धित राजा हैं, उनकी शिक्षा ही इस प्रकार की रही है जिसमें धर्म, न्याय और प्रजा प्रियता का कार्य प्रमुख रूप से रहा है। उन्हें तो यह सदा स्मरण रहता रहा हैं कि राजा को सदा ही प्रजा के प्रति दयाशील होना चाहिए। राजा वेन का उपदेश करते हुए मुनियों ने यही कहा था कि राजन् ! जो पुरुष वाणी, मन, शरीर और बुद्धि से धर्म का आचरण करता है वह इन लोकों को सहज भाव से ही पार कर जाता है। इसी तरह राजन् ! जो प्रजा की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर पूरी तरह से लेता है वह कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होता है जो इसके विपरीत आचरण करता है वह ऐश्वर्य से च्युत हो जाता है। जो नृप प्रजा की पुत्रवत् रक्षा करते हैं और जो प्रजा से प्रजा रक्षा के लिए ही बलि ग्रहणकर राज्य चलाते हैं, वे इस लोक में और परलोक में आनन्द का भोग करते हैं [१]।

....

१. धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनः कायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरव्यथानन्त्यमसंगिनाम् ॥
स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षणः।
यस्मिन् विनष्टे नृपतिरैश्वर्यादवरोहति ॥
राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजां नृपः।
रक्षन् यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते ॥
यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरूषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः ॥
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने ॥
भा. म. पु., पृ. २१५-२१६

इस रूप में जो राजा इस प्रकार का अपना जीवन जीते थे, वे प्रजा को पुत्रवत मानकर उसका पालन करते थे और उनकी नीति ऋजुता की नीति होती थी। उदाहरण के लिए राजा वेन के अत्याचार से पीड़ित प्रजा को सुख देने के लिए पृथु ने पृथिवी से कहा था कि तुम यदि मेरी प्रजा के लिए धन धारण नहीं करती तो मैं तुम्हारे लिए दण्ड की व्यवस्था करूँगा। तुम दुष्टता का व्यवहार करती हुई औषधि, बीज आदि प्रकट नहीं कर रही हो। यदि तुम मेरी प्रजा के पालन में मेरी अवज्ञा करोगी तो मैं अपने सम्पूर्ण बल से प्रजा की रक्षा करूँगा।[१]

....

१. वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम्।
भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु॥
यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौषधं पयः।
तस्यामेवं हि दुष्टायां दण्डो नात्र न शस्यते॥
त्वं स्वल्वोषधिबीजानि प्राक् सृष्टानि स्वयम्भुवा।
न मुञ्चत्यरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः॥
अयूषां क्षुत्परीतानामार्तानां परिदेवितम्।
शमिष्यामि मद्वाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा॥
पुमान् योषिदुत क्लीव आत्मसम्भावनोऽधमः।
भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद् वधोऽवधः॥
त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः।
आत्मयोग बलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजा :॥
एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्तमिव विभ्रतम्।
प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही सञ्जातवेपथुः॥

भा. म. पु., पृ. २२० - २२१

श्रीमद् भागवत में ऋजुता का उदारवादी स्वभाव प्राय: सभी राजाओं में देखा जाता है। यदि कोई राजा राक्षसवृत्ति वाला है, तो अवश्य वह अपनी दुष्प्रवृत्ति से विवश है। अन्यथा राजवंश के नृपतियों ने ऋषिवत् जीवन जीकर अपने प्राणों तक के देने में संकोच नहीं किया। महर्षि दधीचि के पास जब देवता गए और उन्होंने वृत्रासुर का वध करने के लिए उनकी अस्थियों की याचना की तो उन्होंने मानवीय धर्म की यथार्थता का संकेत करते हुए कहा कि कौन ऐसा अबुध है जो इस नश्वर शरीर का दान कर अनश्वर यश न पाना चाहता हो। ऐसा कहकर बिना किसी संकोच के परार्थ अपना शरीर दे दिया। इसी प्रकार से राजा बलि के पास जब भगवान् वामन पहुँचे और केवल तीन पग पृथिवी की याचना की तो राजा बलि ने कहा कि ब्रह्मचारी ! मेरे यहाँ आकर जो याचना करता है उसे फिर अन्यत्र कहीं याचना करने नहीं जाना पड़ता। फिर तुम इतनी अल्पवस्तु की याचना क्यों कर रहे हो।[१] इस प्रकार का व्यवहार और जीवन दर्शन राजाओं का रहा है।

....

१. योऽध्रुवेणात्मा नाथा न धर्मं न यश: पुमान्।
ईहते भूत दयया स शोच्य: स्थावरैरपि ॥
एतावानव्ययो धर्म: पुण्यश्लोकैरुपासित:।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥
अहो दैन्यमहीकष्टं पारक्यै: क्षणभंगुरै:।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्भर्त्य: स्वज्ञातिविग्रहै: ॥

मां वचोभि: समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम्।
पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान् द्वीपदाशुषम् ॥
नं पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति।
तस्माद् वृत्तिकरी भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे ॥
भा. म. पु., पृ. ३२७-२८, ४२२

(घ) राजा तथा प्रजा का आचारात्मक एवम् नैतिक सम्बन्ध -

प्राचीन भारत की व्यवस्था में समाज में दो ही ध्रुव थे। एक शासक के रूप में राजा और शासित के रूप में प्रजा। इसमें भी वही स्थिति थी, जिसके अनुरूप यह कहा जा सकता है कि कुछ दुष्ट प्रवृत्ति के शासकों को छोड़कर राजा और प्रजा का सम्बन्ध पूरी तरह से उनके आचार-व्यवहार और नैतिक मानदण्डों पर आधारित था। 'यद्यादाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' के अनुरूप तब राजा की श्रेष्ठता के अनुसार जो राजा अपने श्रेष्ठ आचरण से आदर्श प्रस्तुत करता था, प्रजा भी वही करती थी। राजा भी इस रूप में आदर्श राजा होते थे क्योंकि वे अपने जीवन में ऐसा कोई भी व्यवहार नहीं करते थे जिससे प्रजा कुपथगामिनी हो जाए। इस रूप में हम युधिष्ठिर, परीक्षित, प्रहलाद, बलि, हरिश्चन्द्र, दुष्यन्त, श्रीराम आदि का उदाहरण उनके श्रेष्ठ आचरणों और नैतिक मानदण्डों के लिए क़र सकते हैं।

महाराज युधिष्ठिर का तो एक दूसरा नाम धर्मराज ही है क्योंकि धर्म की स्थापना और उसकी रक्षा के लिए उन्होंने अपने जीवन में अनेक कष्ट सहे। वे कभी भी अन्याय के पथ पर नहीं चले जबकि भीम, अर्जुन जैसे दिग्विजयी योद्धा उनके साथ थे। यह उनका प्रजा के लिए परम नैतिक आचार था।[१]

....

१. अहोकष्टमहोऽन्यायं यद्यूयं धर्मनन्दनः।
जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः॥
संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ पृथा बालप्रजाः बधूः।
युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता स्तोकवती मुहु :॥
सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम्।
सपालोयद्वशो लोको वायोरिव घनावलिः॥

भा. म. पु., पृ. ६४

पाण्डु वंश के परीक्षित भी सत्य, न्याय, धर्म और प्रजापालन के लिए ख्यात हैं यद्यपि कालवश उनसे एक अनैतिक कार्य हो गया था, जिसमें उन्होंने स्वयं को अपमानित मानकर एक ऋषि के गले में मरा सर्प डाल दिया था। वे जब इस योग्य हुए कि राज्य का संचालन कर सकें तो उन्होंने दिग्विजय के लिए पृथिवी का भ्रमण किया।भ्रमण करते हुए उन्होंने वृषभ वेशधारी धर्म को पीड़ा की स्थिति में सान्त्वना देते हुए उसे जो कहा उससे उनका प्रजा के प्रति सदाशयता का भाव ही प्रकट हुआ। उन्होंने कहा था कि कलिकाल तुम मेरे द्वारा शासित इस भूमि पर अब अधर्म का राज्य स्थापित नहीं कर सकोगे। लोभ, अनृत, चौर्य, माया, कलह, दम्भ इन सभी का व्यवहार अब इस भूमि पर तुम्हारे द्वारा नहीं किया जाएगा। राजा परीक्षित ने कलिकाल को सम्बोधित करते हुए यह भी कहा था कि अब इस धरा पर सत्य तथा न्याय का ही अनुपालन होगा और तुम्हें भी सत्य तथा न्याय के साथ चलना होगा।[१] इससे राजा की सत्य और न्याय की वृत्ति प्रकट हुई और इसी से उनका प्रजा के प्रति नैतिक सम्बन्ध भी स्थिर दिखा।

....

१. न ते गुडाकेशयशोधराणां बद्धाञ्जलेर्वै भयमस्ति किञ्चित्।
न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः।
त्वां वर्तमानं नरदेवं देहेष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः॥
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः।
न वर्तिव्यं तदधर्मबन्धो धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञैर्यज्ञेश्वरं यज्ञवितान विज्ञाः॥
यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान इज्यात्ममूर्तियजतां शंतनोति।
कामानमोघान् स्थिरजंगमानामन्तर्बहिर्वायुरिवैष॥

भा. म. पु., पृ. ८२

प्रहलाद के चरित्र में तो यह देखने को मिलता है कि वे तो जन्म से ही सात्विक बुद्धिवाले थे और उनका प्रजा का सम्बन्ध भी उनकी इसी वृत्ति के कारण नैतिकता पर आधारित था। प्रहलाद के पिता ने जब अपने पुत्र के व्यवहार को देखा और स्वयम् की राक्षसवृत्ति से अपनी दुश्चिन्ता व्यक्त की तब नारद जी ने पूछा कि वत्स ! यह कहो कि इस प्रकार की बुद्धि तुम्हें कहाँ उत्पन्न हुई है। तुम्हारा यह बुद्धि भेद किस प्रकार से हुआ है। यह स्वतः हुआ है अथवा यह बुद्धि भेद किसी के द्वारा किया गया है। इसके उत्तर में जो प्रहलाद ने कहा था, वह उनके सत् विचारों का ही प्रतिबिम्ब था और किसी भी शासक के लिए ऐसे ही सद् विचार उसके और प्रजा के सम्पर्क के सेतु बनते हैं। प्रहलाद ने भी नारद जी को उत्तर देते हुए कहा था कि स्व तथा पर का जो भेद मायाकृत है वह बुद्धि को विमोहित कर देता है और इससे व्यक्ति का जीवन असद्ग्राह वाला हो जाता है। इसी भेद बुद्धि से सारा संसार भ्रमित होकर घूमता रहता है।[१]

....

१. वत्स प्रहलाद भद्र ते सत्यं कथय मा मृषा।
बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः ॥
बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत्।
भण्यतां श्रोतुकामानां गुरूणां कुलनन्दन ॥

स्वः परश्चेत्यसद् ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः ॥
स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती ॥

यथा भ्रामायत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ॥
भा. म. पु., पृ. ३५८

प्रहलाद का वैचारिक स्वभाव और व्यवहार ऐसा था जो भारतीय परम्परा का उज्ज्वल रूप कहा जा सकता है। वे राजा तो बाद में बने किन्तु पूर्व से ही पिता के प्रति और प्रजा के प्रति उनके मन में सदाशयता का भाव था। जब भगवान नृसिंह ने उनके पिता का वध कर दिया और प्रहलाद से वरदान माँगने को कहा तब प्रहलाद ने कहा था कि भगवन्! यदि आप मुझे वरदान देना चाहते हैं तो आप कृपा कर ऐसा करें जिससे मेरे पिता, जिन्होंने आपकी निन्दा की है और इस हेतु से जो पाप के भागीदार हैं, उनका पाप कट जाए तथा उनका जीवन पवित्र हो जाए।[१]

प्रहलाद की सर्व समता की दृष्टि बालपन से ही स्पष्ट थी। अपने साथियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि मनुष्य का जन्म दुर्लभ है। ऐन्द्रिय सुख के लिए जो प्रयत्नशील रहते हैं वे यह नहीं समझते कि सुख के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता इसलिए नहीं कि जिस प्रकार दुःख न चाहने पर स्वतः ही बिना प्रयत्न के मिलता है, वैसे ही सुख भी स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। इसलिए सभी प्राणियों पर समान दया का भाव रखकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।[२]

....

१. वरं वरय एतत् मे वरदेशान्महेश्वर।
यदनिन्दत् पिता मे लाभविद्वांस्तेज ऐश्वरम् ॥
तस्मात् पिता मे पूयेत दुरन्ताद् दुस्तरादधात्।
पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सलः ॥
भा. म. पु., पृ. ३७३

२. कौमारं आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥
यथाहि पुरूषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम्।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरूत सौहृदम्।
वही, पृ. ३६०-३६१

महाराज बलि ने तो यह जानकर कि वामन रूप में खड़े हुए भगवान् उसके साथ छल कर रहे हैं अपने कहे हुए वचनों का पालन करते हुए सत्य का ऐसा आचारात्मक और नैतिक उदाहरण प्रस्तुत किया। जिससे उनकी प्रजा स्वयं को गौरवान्वित मानती रही होगी। बलि के गुरु शुक्राचार्य ने वामन द्वारा तीन पग भूमि माँगे जाने पर उन्हें पहचान लिया और यह भी जान लिया कि उनके शिष्य के साथ छल किया जा रहा है। उन्होंने शिष्य को सचेत करते हुए कहा कि महाराज ! ये तो अदिति-कश्यप के पुत्र साक्षात् नारायण हैं और ये तो देवों के कार्य साधन के लिए यहाँ उपस्थित हुए हैं। आपने बिना जाने ही जो तीन पग भूमि देने का वचन इनको दिया है वह बहुत बड़ा अनर्थ करने वाला है। आपका यह ऐश्वर्य, स्थान,श्री,तेज, यश अपनी इच्छानुसार यह इन्द्र के लिए दे देंगे। ये तो मायात्मक रूपधारण करने वाले विष्णु हैं। ये अपने एक पग से भूमि का मापन कर लेंगे, दूसरे पग के विस्तार से आकाश में व्याप्त हो जाएँगे। यदि आपने इसके प्रति दिए गए वचन को निभाया तो अवश्य ही आपके रहने को कोई स्थान न बचेगा और आपको नर्क में आश्रय लेना होगा।[१]

....

१. एष वैरोचने साक्षाद् भगवान् विष्णुरव्ययः।
कश्यपादितेर्जातो देवानां कार्यसाधिका ॥
प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता।
न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः ॥
एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशःश्रुतम्।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥
निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम्।
प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान् ॥
भा. म. पु., पृ. ४२२

अपने आचार्य के इस प्रकार से कहे जाने पर महाराज बलि ने जो उत्तर दिया था, वह उनके जीवनादर्श और नैतिक व्यवहार का श्रेष्ठतम उदाहरण था। राजा ने कहा गुरुवर ! आपने जो कहा है, वह सत्य है। दान वही है जो अर्थ को बाधित न कर दे। अर्थात् जिस दान से स्वयं की जीविका बाधित न होवे, वही प्रशंसनीय दान है। किन्तु भगवान् ! धन विनष्ट हो जाने के भय से भला मैं इस विप्र को दिए गए वचनों से कैसे विमुख हो जाऊँ। राजा ने कहा कि हे महाराज ! असत्य से बढ़कर और अन्य कोई अधर्म नहीं है। इसलिए असत्य का व्यवहार मैं भला कैसे कर सकता हूँ। मैं न तो नर्क को डरता हूँ, न ही मुझे इस अपने स्थान से च्युत हो जाने का भय है। मैं इस बालक को ठगने से भयभीत हूँ और यह मैं नहीं कर सकता हूँ। संसार में जो श्रेष्ठ और सज्जन पुरुष हैं। वे समय आने पर अपने प्राण देकर भी परमार्थ करते हैं। दधीचि, शिव आदि राजाओं का ऐसा ही चरित्र रहा है।[१]

....

१. सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित्॥
न चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम्।
प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा॥
न ह्यसत्यात् परोऽधर्मः इति होवाच भूरियम्।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीक परं नरम्॥
नाहं बिभेमि निरयान्नधन्यादसुरवार्णवात्।
न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रलम्भनात्॥
श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः।
दध्यङशिविप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु॥
भा. म. पु., पृ. २२३

राजकुमार के रूप में श्रीराम के आचार- व्यवहार का तथा उनकी नैतिकता का जिस रूप में श्रीमद् भागवत में वर्णन किया गया है, उससे भी आगे श्रीराम के राजा होने पर उनका नैतिक और आचारात्मक व्यवहार ही प्रजा के प्रति रहा है। अपने पिता की मौन सहमति और माता की इच्छा का सम्मान करते हुए श्रीराम ने चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया। बाद में आततायी रावण का वध करके वे जब भी अवध लौटे तो उन्होंने प्रजा का पालन इस रूप में किया जैसे कोई अपने सन्तान का पालन करता है उनके राज्य में न कोई दरिद्र रहा और न कोई दुखी। कोई भी न तो लक्षणहीन और न ही कोई बुद्धिहीन। वन, नदियाँ, पर्वत और उपत्तिकाएं सभी उल्लास से भर गईं। वर्षा समय से और अपेक्षित मात्रा में होने लगी। न ही किसी को कोई व्याधि थी और न ही किसी को किसी प्रकार की कोई भी चिन्ता। किसी को भी अनिच्छित रूप से मृत्यु का भी वरण नहीं करना पड़ता था। ऐसा राम के आचरण और व्यवहार से उनका प्रजा का सम्बन्ध था।[१]

....

१. यः सत्यपाशपरवीतपितुर्निदेशं स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं त्यक्त्वा यमौ वनमसूनिव मुक्तसंगः॥

अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः।
प्रजाः स्वधर्मनिरताः वर्णाश्रमगुणान्विताः।
जुगोप पितृवद् रामो मेनिरे पितरं च तम्॥

एक पत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥
भा. म. पु., पृ. ४५१, ४५३, ४५४

(ङ) श्रीमद्‌भागवत में अर्थव्यवस्था -

मनुष्य जीवन के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय की कल्पना प्राचीन समय से ही इस देश में की जाती रही है क्योंकि इनका कथन मनुष्य के वर्तमान जीवन की शुचिता तथा पारमार्थिक श्रेय की प्राप्ति के लिए भी किया गया है। इसलिए इनका व्यवहार बड़ा ही संयमित तथा नैतिक रहा है। यही कारण है कि प्राचीन काल में जीविका के निर्वाह के जो साधन थे वे सभी नैतिक आधार पर ही मान्य थे और उन्हीं पर चलकर व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति तय करता था।

तब के समय में मुख्य रूप से अर्थ व्यवस्था का आधार भूमि ही थी। अचल सम्पत्ति के रूप में तब भूमि की ही गणना की जाती थी। भूमि को क्षेत्र के रूप में कहा जाता था और उसे कृषि योग्य बनाकर समय पर उसमें बीज वपन किया जाता था। जो भूमि कृषि योग्य थी, उसे खिल्य कहते थे।[१] हल से जिस भूमि का कर्षण होता था, वह उर्वरा हो जाती थी और तब कर्षण के लिए छह, आठ, बारह तक बैल नियोजित किए जाते थे।[२]

अथर्ववेद में पृथिवी सूक्त में पृथिवी की महत्ता का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि यह भूमि समुद्र, नदियों और जल से सम्पन्न है। इस भूमि में कर्षण करने से अन्न उत्पन्न होता है। इसी सूक्त में ऋषि भूमि से कामना करता है कि यह भूमि कर्षण करने पर हमें अन्न दे और इसी के साथ साथ यह हमें गो सम्पत्ति से भी परिपूर्ण करे।[३]

....

१. ऋक् १०/३३/६, १/११०/५

२. वही, ४/६/४८

३. यस्यां समुद्र उतसिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्भूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्णपेये दधातु ॥

या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥
अथर्व (२), पृ. ६३४

अन्न की महत्ता तो सर्वविदित है। उल्लिखित सन्दर्भ में भी गो पशु के साथ-साथ अन्न की प्राप्ति की प्रार्थना से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्न तब एक महत्वपूर्ण आर्थिक द्रव्य था। यद्यपि इसकी याचना के साथ ही ऋषि कहीं कहीं सुवर्ण आदि की भी कामना करते हुए दिखाई देते हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि अचल सम्पत्ति भूमि के अतिरिक्त तब चल सम्पत्ति में गो वंश और सुवर्ण आदि गणित थे।[१]

प्राचीन संकेतों से जीविका के अन्य साधनों का भी ज्ञान होता है। जैसे तब कुछ विशेष वर्ग जीवों का शिकार करके अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। तब वराह का शिकार कुत्तों के द्वारा और जंगली भैसों का शिकार फेंके जाने वाले कमन्द से किया जाता था। एक दो सन्दर्भ ऐसे भी है जिनसे यह ज्ञात होता है कि तब कभी-कभी सिंह का शिकार भी किया जाता था।[2] इस सबका अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि मुख्य साधन जीवन निर्वाह का अन्न ही था किन्तु आखेट आदि के द्वारा मनोरंजन के साथ-साथ जीविका का निर्वाह करना भी हो सकता था।

....

१. निधि विभ्रतिबहुधा गृहावासु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।

अथर्व (२), पृ. ६११

२. ऋक् २/४२/२, १०/५१/६, ५/१५/३

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येनं पदं नय।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वां निर्कर्तुमर्हति॥

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव॥
अथर्व (१), पृ. ५१६-५१७

वैदिककालीन समाज में शिल्प का कार्य कर अपनी जीविका चलाने का भी उल्लेख मिलता है। कुछ लोग ऐसे थे जो तब शिल्प के कार्य में प्रवृत्त होकर अपनी आर्थिक पूर्ति करते थे। इसका काम बढ़ई अर्थात् लकड़ी का काम करने वालों की गणना की जाती थी। जो धातु का कार्य करते थे वे कर्मार के रूप मे सम्बोधित होते थे। धातु का कार्य करने वालों में लोहे का कार्य करने वाले अलग थे और स्वर्ण का कार्य करने वाले पृथक् थे। लोहे का कार्य करने वाले अयोहत के रूप से परिचित थे जबकि सोने के आभूषण बनाने वाले हिरण्यकार कहे गए हैं।[१] एक स्थान पर यह संकेत भी है कि व्यापार के रूप में कोई दस गाएँ देकर इन्द्र की प्रतिमा का क्रयण करता है। इसी तरह एक संकेत यह है कि किसी वस्तु का मूल्य चाहे कम हो अथवा अधिक विक्री के समय जो निश्चित हो जाए, क्रेता और विक्रेता को वही मानना चाहिए।[२]

उपनिषद् कालिक परम्परा में जीविका के मुख्य साधनों में स्वर्ण, भूमि आदि मुख्य थे। इसका संकेत तब देखा जाता है जब नचिकेता को सन्तुष्ट करने के लिए उसे स्वर्ण और भूमि देने की बात कहते हैं।[३] इतना अवश्य था कि यह सब सुपथ पर चल कर प्राप्त करने की ही तब कामना होती थी।[४]

....

१. ऋक् ९/११२/१, ९/१/२, १/१२२/५

२. दशभिर्महेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।

ऋक् ४/२४/१०, ४/२४/९

३. गो अश्वमिह महिमेत्याक्षचे हस्तिहिरण्यं दासभार्यः क्षेत्राण्यायतनानीति

नाहमेवं ब्रवीमि होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठत इति।

ई. द्वा. उ., पृ. २४२

४. अग्ने नभ सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वन्।

वही, पृ. ५

उपनिषदों का सारा का सारा जोर अन्न की महत्ता का प्रतिपादन करने में इसलिए था क्योंकि तब कृषि प्रधान जीवन होने के कारण अन्न जीवन और जीविका के लिए महत्वशील था। अन्न को प्राण कहते हुए तब कहा गया कि अन्न इतना अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि अन्न पर ही स्थावर और जंगम आधारित हैं। जो भी प्रजा है अर्थात् जीव संतति है वह सभी की सभी अन्न से ही जीवित रहती है। जिन्होंने भी पृथिवी का आश्रय लिया है वे इसके आश्रय के साथ-साथ अन्न पर ही आधारित होकर अपना जीवन धारण करते हैं।[१]

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में लौह व्यापार के स्वर्णकार्य के ऐसे संकेतात्मक उदाहरण हैं जिनसे यह कहना सम्भव है कि तब लौह और स्वर्ण की वस्तुओं के निर्माण से संचालन किया जाता रहा होगा।[२]

....

१. अन्नाद् वै प्रजा: जायन्ते। या: काश्च पृथिवी श्रिता:।
अथो अन्नेनैव जीवन्ति।

ई. द्वा.उ., पृ. ८५

२. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता
दुरत्यया दुर्गं पथं तत् कवयो वदन्ति।

वही, पृ. २५-२६

यथा सौम्येकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं

वही, पृ. २०९

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्वतरं कल्याणतरं.........

वही, पृ. ३७२

पौराणिक सन्दर्भ में भी अर्थ पर विचार किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि अर्थ बुद्धि के कौशल से प्राप्त होता है। बुद्धि के कौशल में धर्म के आधार देने की परम्परा तब अवश्य थी। अर्थ और अर्थार्जन की प्रक्रिया राजा के साम्राज्य के सम्बन्ध में दोषों का कथन किया गया है। राजा के अर्थ दोषों के सम्बन्ध मे यह कथन है कि उसके यहां अर्थ दोष और अर्थ सम्बन्धी दोष दोनों ही होते हैं। अपने दुर्ग परकोटों तथा मूल दुर्ग आदि की अपेक्षा और अस्त व्यस्तता में अर्थ दोष का कथन किया गया है। इसी तरह से कुदेश और कुपात्र को दिए गए दान को अर्थ सम्बन्धी दोष कहा गया है।[१]

व्यक्ति के कर्म का आधार अर्थ पर अधिक प्रभावी माना गया है। एक स्थान पर यह सन्दर्भ है कि जैसे कृषि और वृष्टि का संयोग होने पर समय आने पर ही फल की प्राप्ति होती है। उसी तरह से निरन्तर क्रियाशील होने पर समय आने पर फलोपलब्धि होती है।[२]

....

१. अर्थस्य दूषणं राजा द्विप्रकारं विवर्जयेत्।
अर्थानां दूषणं चैकं तथार्थेषु च दूषणम्॥
प्रकाराणां समुच्छेदो दुर्गादीनामसत्क्रिया।
अर्थानां दूषणं प्रोक्तं विप्रकीर्णत्वमेव च॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रे दानमेव च।
अर्थेषु दूषणं प्रोक्तं-असतकर्मप्रवर्तनम्॥

म. पु. (२), पृ. ८८४

२. कृषेर्वृष्टिसमायोगात् दृश्यन्ते फलसिद्धयः।
तास्तुकाले प्रदृश्यन्ते नैवाकाले कथंचित्॥

वही, पृ. ८८८

<u>जीविकोपार्जन के साधन-</u>

श्रीमद्भागवत पुराण में अर्थ की अर्जन की जो स्थिति कही गई है उसके अनुसार यह कहा गया है कि सभी वर्ण अपने-अपने लिए निर्धारित कर्म करें और उसी से अपने लिए जीविका साधन प्राप्त करें। इसमें से विप्र के लिए अध्ययन-अध्यापन का माध्यम था और वह अप्रितग्राही हाने के कारण ही इससे अपनी जीविका पा लेता था जो राज परिवार के क्षत्रियवंशी होते थे। वे अपने जीवन में प्रजा रक्षण का काम करते थे और उसी से कर आदि प्राप्त कर अपनी जीविका चलाते थे। वैश्य समाज का कार्य पशुपालन, कृषि और वाणिज्य मुख्य रूप से था और यह समाज इसी माध्यम से अपनी जीविका चलाता था। शूद्र शिल्प आदि के द्वारा अपनी जीविका चलाता था। इन वृत्तियों में उञ्छवृत्ति, ऋतवृत्ति, अयाचित वृत्ति, अमृतवृत्ति, वाणिज्यवृत्ति, सत्यानृतवृत्ति तथा श्ववृत्ति का भी संकेत है।[१]

....

१. विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः।
राज्ञोवृत्ति प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः॥
वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्॥

ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम्।
मृतं तु नित्य याच्या स्यात् प्रभृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिनीचसेवनम्।
वर्जयेत् तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम्॥

भा. म. पु., पृ. ३५६,३७६

श्रीमद् भागवत का अधिकतम अंश सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप अपनी कथा के माध्यम से करता है। इसमें प्राचीन समय में वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था प्रमुख रूप से विद्यमान थी, इसलिए अन्य जो भी वर्णन है वह सभी इन्हीं पर आधारित है। इसलिए जब तब की आर्थिक व्यवस्था का कथन किया गया है तो यही कहा गया है कि उस समय की आर्थिक व्यवस्था भी वर्णानुकूल ही थी। इसलिए यह कथन पुनः दुहराया गया है कि ब्राह्मण यज्ञ- यागादि के द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करे। क्षत्रिय को चाहिए कि वह प्रजा की रक्षा करता हुआ समाज की सुचारु व्यवस्था में सहयोगी बने और उसी से अपनी जीविका का संचालन भी करता रहे। वैश्य के लिए अवश्य ही व्यापार और कृषि का व्यापक क्षेत्र दिया गया है जिससे वह अपनी आजीविका के साथ-साथ समाज का भी ध्यान रखे।[१]

इस पुराण में यह भी कथन है, जो मनुष्य के लिए सदाचरण का निर्देशक है कि व्यक्ति का उदरपोषण जितने में हो जाये,उतना ही वह ग्रहण करे। उससे अधिक यदि वह ग्रहण करता है तो वह 'स्तेन' है और दण्ड का भागीदार है।[२]

....

१. वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया॥
कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते।
वार्ताचतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयो निशम्॥
भा. म. पु., पृ. ५२८

२. दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।
तत् सर्वमुपभुञ्जानं एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः॥
यावद् भ्रियेत् जठरं तत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति॥
वही, पृ. ३८०

श्रीमद्भागवत महापुराण कथा की दृष्टि से श्रीकृष्ण के जीवन चरित का कथन अधिक मात्रा में करता है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण की प्रमुख लीलाएँ और उनके अरण्य जीवन का वृतांत अधिकतम मात्रा में कहा गया है। उनका नाम गोपाल उनके एक विशेष कार्य को व्यक्त करता है जो उनके द्वारा गो पालन को प्रकट करता है। यदि आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में देखा जाए तो गो जाति चल सम्पत्ति के रूप में स्वीकृत थी और श्रीकृष्ण द्वारा गोपाल एक प्रकार का आर्थिक जीवन जीने का ही स्वरूप है। ब्रज में दूध-दही और घृत आदि का प्रयोग भी इसी दृष्टि से होता रहा होगा, जिससे समाज की जीविका विधिपूर्वक चलती होगी। कृषि तो मुख्य रूप से थी, क्योंकि गायों से ही बछड़े मिलते थे, जो कृषि कार्य के लिए महत्वपूर्ण है।[१] इस रूप में यह देखा जा सकता है कि तब के समाज में वर्णाश्रित कार्य और कृषि तथा वाणिज्य ही जीविका के मुख्य साधन थे।

....

१. एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून्।
रेमे सञ्चारमन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः॥

फलानि तत्र भूराणि पतन्ति पतितानि च।

निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः।

केदारेभ्यस्त्वपो गृह्णन् कर्षकाः दृढसेतुभिः।

बभौ भूः पक्वसस्याढ्याः कलाभ्यां नितरां हरेः॥

भा. म. पु., पृ. ५११, ५२१

कृषि एवम् पशुपालन

श्रीमद्भागवत महापुराण एक ऐसा पुराण है जो विशेष रूप से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सन्दर्भ में भगवान के अवतार की कथा कहता है और इसी माध्यम से वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संस्कारों आदि का परिचय भी देता है। साथ ही साथ यह पुराण अनेकानेक राजवंशो का आख्यान वर्णित कर उनके विविध वर्णन भी करता है। इसलिए इस पुराण में आर्थिक व्यवहार के रूप में कुछ विशेष अथवा अतिरिक्त रूप से नहीं कहा गया है , क्योंकि प्राचीन वर्णव्यवस्था में सभी के कर्त्तव्यों को उनका धर्म माना जाता था, इसलिए भिन्न-भिन्न वर्णो के कर्त्तव्यों में कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, आदि का उल्लेख तो है, किन्तु वाणिज्य का कोई विधिपूर्वक विस्तार से वर्णन नहीं है। इसी तरह से कृषि और पशुपालन का भी कोई वैज्ञानिक और वैधानिक व्यवहार इस पुराण में वर्णित नहीं है फिर भी संकेतो से यह पुष्ट है कि तब के समाज में कृषि तथा पशुपालन पर ही पूरा जोर था। क्योंकि मनुष्य का जीवन अधिकतर प्रकृति से जुड़ा हुआ था , इसलिए उसे कृषि और पशुपालन का सौविध्य भी था। अत: जिन सन्दर्भों को इस प्रसंग में लिया जा सकता है वे भूमि के महत्त्व को और गोरक्षा को अधिक स्पष्ट रूप से रेखांकित करते हैं।

राजा वेन बहुत अधिक बलशाली था। साथ ही साथ वह उतना ही अत्याचारी था। उसके अत्याचार से प्रजा बहुत अधिक पीड़ित थी। यही कारण हुआ कि प्रजा की हित कामना से प्रेरित होकर महर्षियों और विप्रों ने उसका वध कर दिया और उसके एक पुत्र पृथु को पृथिवी का शासक नियुक्त किया।

आचार्यों, ऋषियों और विप्रों ने कहा कि यह राजा धर्म पथ पर चलेगा और लोक पालन में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगायेगा। यह राजा ऐसा होगा जो प्रजा केजीवन निर्वाह के लिए पृथिवी से सम्पूर्ण वस्तुओं को शक्तिपूर्वक प्राप्त करेगा। अर्थात् जिस भाँति गाय से दुग्ध प्राप्त करने के लिए गाय दुही जाती है उसी तरह से यह पृथिवी का दोहन करेगा।

राजा ने पृथिवी से कठोरतापूर्वक अन्नादि देने के लिए कहा और उसके उत्तर में भूमि ने यह कहा कि मुझे समतल करो। तब राजा ने वैसा ही किया अर्थात पृथिवी को अपने कर्षण कार्य से सम किया। तब भूमि ने प्रसन्न होकर अन्नादि वस्तुएँ प्रजा को प्रदान की।[१]

....

१. इति तेऽसत्कृतास्तेन द्विजाः पण्डित मानिनः।
भग्नायां भव्यमाच्जायां तस्मै विदुर चुक्रुधुः॥

इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः।
निजघ्नुर्हुङ्कृतैर्वेनं हतमच्युतनिन्दया॥

अथ तस्य पुनर्विप्रैः अपुत्रस्य महीपतेः।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत्॥

अयं तु प्रथमो राज्ञां पुमान् प्रथयिता यशः।
पृथुर्नाममहाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः॥

सभां च कुरू मां राजन् देववृष्टं यथापयः।
अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो॥

सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः।
सर्वकामदुघां पृथिवी दुदुहुः प्रथभाविताम्॥
भा. म. पु. पृ. ५१५

इसी प्रकार से संकेत रूप में ही है वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण के गोचारण को भी उद्धृत किया जा सकता है और इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तब गोपालन अथवा पशुपालन जीविका का एक मुख्य साधन था। एक स्थान पर श्री कृष्ण द्वारा केवल गोपाल की ही बात न कर पशुचारण की बात कही गई है। इससे यह प्रतीत होता है कि गो के महत्त्वपूर्ण होने पर भी पशुपालन का व्यवसाय मुख्य था।[१]

भगवान् श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण चरित्र यद्यपि समाज के सन्दर्भ में उपदेशपरक कहा जा सकता है तथापि गोपालन उनके बाल जीवन का एक ऐसा रमणीय पक्ष है जो गोपालन के साथ-साथ जीविका का भी साधन था। इसलिए श्रीमद्भागवत में गोपालन और गोचारण को श्रीकृष्ण के चरित्र के साथ जोड़कर उसे अत्यधिक महत्व का कार्य बताया गया है। तब के समाज में क्योंकि गो की महत्ता सांस्कृतिक रूप से स्वीकृत थी, इसलिए इसके माध्यम से जीविका के लिए अर्थार्जन भी सौविध्यकर था। श्रीकृष्ण के गोचारण से यही संकेत लिया जा सकता है। यद्यपि श्रीकृष्ण का कार्य केवल गोपालन तक ही सीमित नहीं था।[२]

....

१. एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णाः प्रीतमनाः पशून्।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः॥
भा. म. पु., पृ. ५११

२. क्रीडिष्यमाणस्ततकृष्णो भगवान् बलसंयुतः।
वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत्॥

पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः।
गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिहीर्षया॥

अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम्।
इषीकाटवीं निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावकर्षिताः॥
वही, पृ. ५१८, ५१९

(च) <u>राजनीति एवं अर्थनीति का सामञ्जस्य -</u>

श्रीमद्भागवत कालीन समाज के लिए यह स्पष्ट संकेत किया गया था कि सामाजिक व्यवस्था और मानवीय आचार तभी प्रसंशा का अधिकारी है जब वह नैतिक और आचारात्मक दृष्टि से उन्नतिशील हो। इसलिए तब के समय में चाहे राज्य के लिए हो अथवा आर्थिक व्यवस्था के लिए, नैतिकता का महत्त्व सभी जगह स्थापित था। इसीलिए मनुष्य मात्र के लिए उसके जीवन संचालन के लिए जो कहा गया उसमें यह कहा गया कि मनुष्य मात्र का यह धर्म और कर्तव्य है कि वह सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय-ऋजुता, सन्तोष आदि का अपने जीवन में पालन करें। इसी प्रकार यह कहा गया कि सभी का यह कर्त्तव्य है कि सभी सभी के प्रति आत्मभाव रखे और अन्नादि जो सम्पत्तियाँ है उनका सभी के लिए सम विभाग करते हुए अपना जीवन संचालित करे। यही उपदेश और व्यवहार राजवृत्ति से अपनी जीविका संचालित करने वाले राजाओं के लिए भी थी। इसलिए राजनीति का लक्ष्य अर्थनीति के समन्वय के साथ मनुष्य मात्र का हित साधन ही था।[१]

....

१. सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥

अन्नाद्येः संविभागो भूतभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
राज्ञोवृत्तिः प्रजागोसुरविप्राद् वा करादिभिः॥

भा. म. पु., पृ. ३७६

इस नीति का पालन तो राजा करता ही था तत्कालीन समाज के सामाजिक तथा ऋषि,विद्वान आदि भी ऐसा करने के लिए राजा को विवश करते थे। इसलिए राजा स्वयम् अपने संस्कार वश अथवा प्रजा के दबाव से अपनी राजनीति और अर्थनीति का ऐसा सामञ्जस्य बना कर चलता था जिससे वह प्रजा हित में निरंतर निरत रहे। यदि कोई प्रजा ऐसा नहीं करता था तो प्रजा उसका विरोध कर वैकल्पिक व्यवस्था करने में संकोच नहीं करती थी। हिरण्यकश्यप का विरोध उसके पुत्र प्रहलाद ने किया और अनीति पर चलने के कारण राजा वेन का विरोध प्रजा ने किया।[१]

अन्य और भी ऐसे संदर्भ है जब यह देखा गया कि राजाओं ने प्रजा हित में कठोर निर्णय किए किन्तु अपनी राजनीति और अर्थनीति को प्रजा विमुख नहीं होने दिया।

....

१. भा. म. पु. पृ. ३६५, २१६, २१७

पञ्चम् अध्याय

(श्रीमद् भागवत में धर्मनीति एवम् आचार)

(क) सामान्य धर्म

(ख) विशेष धर्म

(ग) आश्रम धर्म

(घ) लौकिक धर्म

(ङ) पारलौकिक धर्म

(च) पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री तथा गुरु-शिष्य धर्म

(छ) धर्म एवम् आचार

(ज) धर्म एवम् आचार के सम्बन्धित कारक-
अहिंसा, क्षमा आदि

(झ) निष्कर्ष

पंचम अध्याय

(श्रीमद् भागवत में धर्मनीति एवम् आचार)

(क) सामान्य धर्म -

कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रणेता महर्षि चाणक्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ कौटित्लीय अर्थशास्त्र में धर्म के दो स्वरूपों का कथन किया है। वे लिखते हैं कि वर्णधर्म और आश्रम धर्म तो वे धर्म हैं जो अपने-अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन के रूप में विविध वर्णों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। इसी तरह से विविध आश्रमवासियों के द्वारा अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन के रूप में जिन कार्यों का निर्वहन होता था , वे आश्रम धर्म कहे जाते थे। विशेष-विशेष वर्णों और विशेष आश्रमों के द्वारा अपने कर्त्तव्यों के रूप में कहे गए कर्म ही विशेष धर्म माने जाते हैं।[१]

जो धर्म कार्य सभी के लिए होते थे, वे सामान्य जनों के होने के कारण सामान्य कहे जाते थे। इनका पालन करना सभी जनों के लिए हितकारक और मानवीय मान को प्रकट करने वाला होता था , इसलिए ऐसे धर्म सामान्यधर्म कहे जाते थे। कौटिल्य ने इनमें अहिंसा, सत्य, शौच, अनसूया, अनृशंसता, क्षमा को कहा है। क्योंकि इनका पालन करना सभी वर्णों और आश्रमवासियों के द्वारा सुखकर होता था, इसलिए इनका पालन करना सामान्य धर्म कहा गया था।[2]

....

१. एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थपनादौपकारिकः।

कौ. अ. , पृ. १२

२. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयानृशंस्यं क्षमा च।

वही, पृ. १४

इस रूप में सामान्य धर्म के अंगों में जिनकी गणना कौटिल्य ने की है वे हैं अहिंसा, सत्य, शौच, अनृशंसता, अनसूया, क्षमा। इसके अतिरिक्त धर्म के जो अंग अन्य स्थानों पर गिनाये गये हैं , वे भी श्रीमद् भागवत में प्राप्त हैं।

<u>अहिंसा</u> -

महर्षि पतंजलि के द्वारा रचित योग सूत्र में योग के अष्टांगों में यम के अन्तर्गत अहिंसा की प्रतिष्ठा को कहा गया है। उस संदर्भ में व्याख्या करते हुए एक व्याख्याकार ने यह लिखा है कि शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी भी प्राणी को शारीरिक अथवा मानसिक दुख पहुंचाना हिंसा हैं। इस प्रकार से किसी भी जीव को किसी भी रूप में पीड़ित न करना ही अहिंसा है अर्थात् शारीरिक और मानसिक किसी रूप में जीव मात्र को पीडित न करना ही अहिंसा है। अर्थात् शारीरिक और मानसिक रूप में जो अपने जीवन में आचरण करता है, इसकी अहिंसा में प्रतिष्ठा हो जाती है और इस तरह से उसका सभी प्राणियों से वैर छूट जाता है।[१]

श्रीमद्भागवत पुराण में धर्मों के कथन के सम्बन्ध में अहिंसा का कथन किया गया है, एक स्थान पर महाराज युधिष्ठिर महर्षि नारद से मनुष्यों के धर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते हैं तब महर्षि धर्म का व्याख्यान करते हुए सत्य, दया, तप, शौच के साथ अहिंसा का भी कथन करते हैं। इसी प्रकार एक अन्य स्थल भी अहिंसा का संकेत करता है।

....

१. पा. यो. प्र., पृ. ३८०,४२६

जिसमें कि भगवान् कृष्ण और उद्धव का संवाद दिया गया है। वहां पर उद्धव भगवान् श्रीकृष्ण से अनेक प्रकार की जिज्ञासायें प्रकट करते हैं जिसके समाधान में भगवान् श्रीकृष्ण मर्म और नियम का कथन करते हुए अहिंसा को मुख्य रूप से कहते है।[२]

इस रूप में यदि देखा जाये तो अहिंसा एक ऐसा धर्म है जिसका परिपालन करना सभी प्राणियों के लिए सुखकर है। मनुष्य अधिक विवेकी होता है और सम्भवतः वह अन्य सभी से अधिक हिंसा भी करता है इसलिए अधिकतम् रूप से उसी का अहिंसक होना समादर्य है। अंहिंसा में केवल स्थूल हिंसा का परित्याग करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु मानसिक रूप से भी पीड़ित करना एक प्रकार से हिंसा ही है और सम्भवतः मानसिक हिंसा स्थूल या शारीरिक हिंसा से बढ़कर पीड़ाजनक है। इसलिए धर्म कथन में अहिंसा का महत्व अधिक है।

....

१. सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमोदमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
भा. म. पु. , पृ. २७६

२. अहिंसा सत्यमस्त्येमसंगो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥
वही, पृ. ७०४

<u>सत्य</u> -

सत्य की महिमा का कथन अनेकशः किया गया है। महर्षि पतंजलि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ योगदर्शन में अष्टांग योग के उपांग के रूप में सत्य का कथन किया है। किसी भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान और उसका उसी रूप में व्यवहार प्रयोग सत्य की कोटि में आता है। शरीर से जिसका पालन हो, वह शरीर का सत्य है, वाणी से जिसका पालन हो वह वाणी सत्य है और मन से जिसका पालन हो वह मन का सत्य कहा गया है।[१]

महर्षि मनु महाराज ने मनुष्य के लिए धर्म की अवधारणा का कथन किया है और धर्म के दस अंगों का विवरण दिया है। इसके अनुसार धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीरता, विद्या, सत्य, अक्रोध धर्म के अंग हैं।[२]

सत्य धर्म का एक अंग है किन्तु सत्य के व्यवहार से ही मानव मात्र का जीवन चलता है। इसलिए आचार्य सत्य के प्रयोग के विषय में अपना मन्तव्य इस प्रकार देते हैं कि सत्य का ही प्रयोग करो किन्तु प्रिय सत्य का ही व्यवहार करो जो अप्रिय सत्य हो उसका प्रयोग मत करो। किन्तु असत्य का प्रयोग भी किसी दशा में मत करो।[३]

....

१. पा. यो. प्र., पृ. ३७९

२. धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
म. स्मृ., पृ. २३९

३. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥
वही, पृ. १६४

श्रीमद्भागवत महापुराण में सत्य के सन्दर्भ में अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं और यह अनुभव किया जा सकता है कि सत्य मावन जीवन का सर्वश्रेष्ठ गुण है। इस महापुराण में एक स्थान पर उद्धव ने श्रीकृष्ण से यम के विषय में प्रश्न किया और पूछा कि महाराज योग का यह अंग कितने प्रकार का होता है। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि आहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यम हैं। श्री उद्धव द्वारा जब सत्य के संबंध में प्रश्न किया गया तो उत्तर में यह कहा गया कि समदर्शन सत्य है। ''समदर्शन'' अर्थात् सभी को समान रूप से देखना, सत्य का व्यवहार है।[१]

इसी प्रकार से जब एक अन्य स्थान पर ब्रह्म प्रकृति का वर्णन किया गया है तो वहाँ पर निरूपण है कि शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, शान्ति,आर्जव, भगवद् भक्ति, दया और सत्य में ब्रह्म प्रकृतियाँ हैं।[२] इन्हीं ब्रह्म प्रकृतियों के माध्यम से ही जीवन के विविध आश्रमों का कथन किया गया है और उनमें सत्य पालन पर बल दिया गया है।

....

१. अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो ह्वीरसंचयः।
आस्तिस्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥
भा. म. पु., पृ. ७०४

२. स्वभावविगमं शौर्यं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्वं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥
वही, पृ. ७०२

जीवन में सत्य का पालन किस प्रकार किया गया है इसको लेकर इस पुराण में यद्यपि अनेक आख्यान हैं, तथापि भगवान् वामन और बलि के आख्यान को मुख्य रूप से यहाँ पर प्रस्तुत किया जा सकता है। भगवान् बलि की दान-प्रकृति का परीक्षण करने के लिए वामन का रूप धारण कर राजा के समक्ष उपस्थित होते हैं और याचना करने की अनुमति माँगते हैं। राजा वटु को कहता है कि यह बलि का दरबार है। यहाँ पर जो भी याचना करने के लिए आया है उसकी इच्छा की पूर्ति इस स्थान पर अवश्य ही की गई है और फिर उसे अन्यत्र याचना के लिये जाना नहीं पड़ा है। इसलिए बटुक ! जो तुम्हारी कामना हो, उसकी पूर्ति के लिए याचना करो। भगवान् के इस प्रच्छन्न रूप को बलि तो नहीं जान सका किन्तु गुरु शुक्राचार्य ने यह देख लिया कि इस रूप में उनके राजा के साथ छल होने वाला है।[१]

....

१. अहो ब्राह्मणदायाद् वाचस्ते वृद्धसम्मताः।
त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा ॥

न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति।
तस्माद् वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे ॥

इत्युक्तः स हसन्नाह वांछितः प्रतिगृह्यताम्।
वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम्॥
विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तमुशनासुरेश्वरम्।
जानश्चिकर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः ॥

भा. म. पु. , पृ. ४२२

आचार्य शुक्राचार्य ने बलि को सावधान करते हुए कहा कि जिनको तुम दान देना चाहते हो ये साक्षात् विष्णु हैं और वामन का रूप धारण करके तुम्हारे सामने उपस्थित हुये हैं। इनका जन्म कश्यप और अदिति से हुआ है और इनका उद्देश्य देवराज इन्द्र का कार्य साधन करना है। ये तुम्हारा धन, तेज, यश, वैभव और सामर्थ्य तुम से लेकर देवराज इन्द्र को प्रदान कर देंगे। इनकी याचना भी विचित्र है। ये एक पद से पृथ्वी नाप लेंगे और एक पद से आकाश नाप लेंगे। तब, तुम बताओं के इनके तृतीय पद के लिए क्या शेष रह जायेगा। यदि तुम इनके तृतीय पद के लिए कुछ नहीं दे पाये तो निश्चय ही तुम नर्क के अधिकारी होगे। क्योंकि जो दान देने को कहकर फिर अपना वचन पूरा नहीं करता तो वह नर्क का अधिकारी बनता है। आचार्य ने कहा कि वह दान भी प्रशंसित नहीं होता जिससे दान देने वाले की जीविका ही विपत्ति में पड़ जावे। दान, यज्ञ, तप, और कर्म का लाभ तो जीविका के लिए ही होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, और स्वजनों के लिए ही धन होता है। यदि इनकी हानि हो तो धन की अर्थवत्ता का महत्त्व नहीं रह जाता है।[१]

....

१. एष वैरोचने साक्षाद् भगवान् विष्णुरव्ययः।
कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः॥

क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभां।
स्वं च कामेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः॥
निष्ठान्ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम्।
प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान्॥

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पंचधा विभजन वित्तमिहामुत्र च मोदते॥
भा. म. पु., पृ. ४२२-४२३

राजा बलि ने अपने द्वारा कहे गए सत्य का आश्रय लिया और आचार्य के कथन को स्वीकार नहीं किया। राजा ने कहा, आचार्यवर ! आपका कथन यथार्थ है किन्तु धन के लोभ से मैं अपने कहे हुए वचनों का प्रत्याख्यान भला कैसे करूँ? ऋषिवर! असत्य से बढ़कर अन्य कोई अधर्म नहीं हैं। मैं सभी कुछ सहन कर सकता हूँ किन्तु असत्य को कैसे सहन करूँ ? सत्य वचनों का पालन करते हुए दधीचि और शिवि आदि ने तो अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर दिया। राजा ने कहा कि यद्यपि यह वटु ब्राह्मण मुझ जैसे निरपराध का बन्धन भी कर सकता है, तथापि मैं इसकी हिंसा नहीं करूँगा।[१]

....

१. सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थं कामं यशो वित्तं यो न बाधेत कर्हिचित्॥
न चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम्।
प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा॥
न ह्यसत्यात् परोऽधर्मः इति होवाच भूरियम्।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम्॥
श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः।
दध्यङ् शिविप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु॥

सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृतास्तनुत्यजः ।
न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः॥

यद्यप्यसौ अधर्मेण मां वधनीयादनामसम्।
तथाप्येनं न हिंसिध्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम्॥
भा. म. पु., पृ. ४२३

क्षमा -

हमारे ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ धर्म का कथन किया गया है वहाँ-वहाँ क्षमा को महत्त्वपूर्ण रूप से उल्लिखित किया गया है। क्षमा धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, ऐसा सभी आचार्य मानते हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंशय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, अभय के साथ ही क्षमा की गणना की गई है और इसे योगांग का अंग कहा गया है।[१]

श्रीमद्भागवत में ऐसे अनेक कथांश है, जिनके सन्दर्भ देकर क्षमा के स्वरूप का आंकलन किया जा सकता है। कुरूक्षेत्र के युद्ध में द्रोणपुत्र ने द्रौपदी के सोते हुए पाँच पुत्रों का वध कर जैसा जघन्य कार्य किया था, वैसा कार्य कोई दूसरा हो नहीं सकता। फलतः ऐसे व्यक्ति का वध करने की व्यवस्था होनी चाहिए थी। और भीम ने ऐसा ही प्रस्ताव किया था कि जिस व्यक्ति ने ऐसा जघन्य अपराध किया है उसका वध तुरन्त कर दिया जाना चाहिए।[२]

इस प्रकार के प्रस्ताव के उत्तर में द्रौपदी ने तब कहा था कि यह गुरु पुत्र है,इसका वध नहीं किया जाना चाहिए। उसने कहा था जिस प्रकार से मैं अपने पुत्रों का वध किये जाने से दुखी हूँ यदि इसका वध किया गया तो इसकी माता भी ऐसे ही दुःख का अनुभव करेगी।[३]

....

१. अहिंसा सत्यमस्त्येयमसंगो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥
भा. म. पु., पृ. ७०४

२. वही, पृ. ६१

३. मा रोदीदस्य जननी गौमती पतिदेवता।
यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥
वही, पृ. ६१

इस प्रकार से द्रौपदी की इच्छा जानकर श्रीकृष्ण ने भी इसका समर्थन किया था और यह कहा था कि यद्यपि यह वध करने योग्य है किन्तु इसका वध न कर इसके मस्तक की मणि का हरण कर लेना चाहिए और इस प्रकार ऐसा जघन्य कार्य किए जाने पर भी द्रोणपुत्र को क्षमा कर दिया गया था।[१]

इसी प्रकार का एक सन्दर्भ और भी है जब दक्ष ने यज्ञ में भगवान् शिव को उनका अंश नहीं दिया। तब शिवा क्रोधित हुई और क्रोध तथा अपमान को न सहन कर सकने के कारण उन्होंने अपने शरीर का परित्याग कर दिया था। भगवान् शिव को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने दक्ष के यज्ञ को विध्वंस कर दिया तथा दक्ष के सिर का उच्छेद कर दिया। बाद में सभी देवगण उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान् से प्रार्थना कर कहा कि इसे क्षमा कर दिया जाए। तब भगवान् शंकर ने देवगणों के आग्रह पर इसे क्षमा कर दिया।[२]

....

१. ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हण:।
भयैवोस्यमाम्नातं परिपालयानुशासनम्॥
कुरू प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम्।
प्रियं च भीमसेनस्य पांचाल्या मह्यमेव च॥
अर्जुन: सहसाज्ञाय हरेर्हरियथासिना।
मणिंजहार मूर्धन्यं द्विजस्य सह मूर्धजम्॥

भा. म. पु., पृ. ६१

२. भूयाननुग्रह अहोभवता कृतो मे दण्डस्त्वया मयि भृतां ---
-------------- ----------------------
क्षमाध्यैव स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रित:॥

वही, पृ. १९६

इसी प्रकार का एक दृश्य महर्षि दुर्वासा और राजा अम्बरीष का भी है। राजा अम्बरीष एकादशी का व्रत करते थे। उनके व्रत समाप्ति के पूर्व महर्षि दुर्वासा राजा के यहाँ अतिथि रूप में पधारे और कहा कि महाराज मेरे भोजन की व्यवस्था करें, मैं तब तक स्नान करके आता हूँ। महाराजा अम्बरीष ने दुर्वासा ऋषि की भोजन व्यवस्था कर उनकी प्रतीक्षा की किन्तु महर्षि समय से नहीं लौटे। इधर राजा ने एकादशी व्रत के पारण का समय जानकर उस अपराध से बचने के लिए पारण कर लिया किन्तु बाद में महर्षि आये और यह जानकर कि राजा ने बिना उन्हें भोजन कराए, पारण कर लिया है बहुत क्रोधित हुए तथा श्राप देने के लिए तैयार हो गये। तब भगवान ने भक्त अम्बरीष की रक्षा की और महर्षि को क्षमा कर भगवान के कोप से बचाया।[१]

इसी प्रकार से एक बार बलराम ने यमुना का आवाहन किया और उसके न आने पर उसका बलात् कर्षण किया। जब यमुना ने क्षमा प्रर्थना की तब उन्होंने उसे क्षमा भी कर दिया।[२]

---

१. सुदर्शनं नमस्तुभ्यं---------------------।

-----------------------------------॥

यदि वो भगवान् भीतः एकः सर्वगुणाश्रयः।

सर्वम् आत्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥

इति संस्तवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम्।

अशाम्यत् सर्वतो विप्रम् प्रददद राजयाच्ञया॥

भा. म. पु., पृ. ४४३

२. परंभावं भगवतो भगवन् मामजानताम्।

ततो व्यमुंचद् यमुनां याचितो भगवान् बलः॥

वही, पृ. ६१२

विद्या -

विद् ज्ञाने धातु से निर्मित यह शब्द उस ज्ञान की ओर संकेत करता है जो ज्ञान मनुष्य को यथार्थ दृष्टि प्रदान करता है तथा जिससे मनुष्य संसार का सुख तथा अलौकिक सुख में भेद कर अलौकिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाता है। ऐसी विद्या को ही धर्म का अंग माना जाता है। और इसी विद्या से ही सामान्य जन अपने जीवन को सार्थक कर पाता है। महर्षि पतंजलि ने इसी दृष्टि से योगदर्शन में कहा है कि योगांगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होने पर विवेक ज्ञान और इससे दृश्य तथा दृष्टा का भेद स्पष्ट हो जाता है।[१]

विद्या तथा विवेक दृष्टि का यह स्वरूप भक्त प्रहलाद के जीवन में देखा जा सकता है। प्रहलाद अपने पिता को सम्बोधित कर एक स्थान पर कहते हैं कि पिता मनुष्य का जन्म दूसरा संसार में दुर्लभ है। सुख शरीर और इन्द्रियों का विषय है इस संसार में जिस प्रकार प्राणी को दुःख बिना किसी प्रयत्न के मिल जाता है , सुख भी उसे उसी प्रकार से मिल जाता है। इसलिए संसार के सुख और दुःख के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सुख तो भगवान् के चरणों में ही प्राप्त होता है।[२]

....

१. पा. यो.प्र., पृ. ३६१

२. दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वं लभ्यते दैवात् यथा दुःखमयत्नतः ॥
तत् प्रयासो न कर्तव्यो यत् आयुर्व्ययः परम्।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥

भा. म. पु. ,पृ. ३६०, ३६१

भक्त प्रहलाद का विवेक मनुष्य के जीवन की सार्थकता और निरर्थकता का कथन इस रूप में करता है कि जिस रूप में वे कहते हैं कि मनुष्य सौ वर्ष तक यदि जीवन जीता है तो २० वर्ष तक की उसकी अवस्था तो बालपन में ही व्यतीत हो जाती है। बाद का जीवन कामशक्ति में , पुत्र-पौत्र के पालन पोषण में और वृद्धावस्था के दुःख द्वन्द्व में जाता है। इसलिए यदि जीवन की सार्थकता इतने में ही नहीं है तो फिर भगवान् के चरणों में स्वयं को निवेदन कर देने के अतिरिक्त और कौन सा साधन ऐसा है जो मनुष्य के जीवन को सार्थक कर सके।

भक्तराज कहते हैं कि भगवान् को प्रसन्न करना बहुत कठिन इसलिए नहीं हैं क्योंकि जो सभी प्राणियों में हृदय में आत्मदृष्टि रखते हैं, ईश्वर तो उनसे स्वतः ही प्रसन्न हो जाता है। ईश्वर तो संसार की मायादृष्टि के कारण ही अन्तर्हित है। वह तो अपनी माया से ही संसार का सर्जन करते हैं।[१]

....

१. न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः।

गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥

केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः।
माययान्तर्हितैश्वर्यम् ईयते गुणसर्गया ॥
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।
आसुरं भावमुन्मुच्य यथा तुष्यत्यधोक्षयः ॥
भा. म. पु., पृ. ३६१

श्री प्रहलाद और नारद का एक सम्वाद इस प्रकार का है जिसमें प्रहलाद कहते हैं कि स्व और पर की विभेद बुद्धि का भेद व्यवहार भी श्री भगवान् के सामर्थ्य से ही उत्पन्न होता है। वे इसी सामर्थ्य से जीव को विमोहित करते हैं जब भगवान् किसी जीव पर कृपालु हो जाते हैं तब वे जीव की इस भेद बुद्धि का विच्छेद कर देते हैं। श्री प्रहलाद जी यह चाहते हैं कि भगवान् अपनी शक्ति से मेरी भेद बुद्धि को विनष्ट कर देवें, वे कहते हैं कि जीव उनके यश का श्रवण करे, नाम का कीर्तन करे, पद सेवा करे और प्रभु-चरणों में आत्म निवेदन करे। इस रूप में भगवान् की यदि अर्चना हो और उनके पदारविन्द में स्वयम् को समर्पित कर दिया जाए, तो कल्याण प्राप्त होता है और यही शिक्षा का उद्देश्य भी है।[१]

....

१. स्वः परश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भागवतं भगवते नमः॥
स यदानुव्रता पुंसां पशुबुद्धिविभिद्यते।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती॥

स एष आत्मा स्वपरत्वबुद्धिभिर्दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्ते।
मुह्यन्ति यद् वर्त्मनि वेदवादिनोब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम्॥

यथा भात्यथो भगवान् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥

भा. म. पु., पृ. ३५८

विद्या की परं परिणति दर्शन में हैं। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो श्रीमद्भागवत में उद्धव द्वारा किए गए प्रश्नों के उत्तर में श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि वह जीव का यथार्थ स्वरूप दिखता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे उद्धव ! यहाँ न कोई बद्ध है और न कोई मुक्त है। यह बन्धन तथा गुणों का कथन केवल गुणों में ही होता हैं। शोक, मोह, सुख, दुख, यह सब देहाश्रित अनुभूतियाँ हैं। संसार का पूरा का पूरा स्वरूप माया रूप ही है, संसार का यथार्थ रूप माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यहाँ जो जीव बन्धन में बंधा हुआ है और मुक्ति में मुक्त समझा जाता है यथार्थ में वह मेरा ही स्वरूप है। यह सब मायाकृत है।[१]

यही स्थिति मनुष्य के शरीर की है। शरीर दैवाधीन है। गुण द्वारा सभी कार्य सम्पादित होते हैं। इन्हीं गुणों की कर्त्तृत्व स्थिति से ही जीव स्वयं को कर्ता मानने लगता है। जो विद्वान है, विद्यावान् है और जिनको विवेक की दृष्टि प्राप्त है, वे प्रकृति के इस व्यवहार में न किसी को बद्ध मानते हैं और न किसी को मुक्त।[२]

....

१. बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य माया मूलत्वात् न मे मोक्षो न बन्धनम्॥
शोकमोहौ सुखं दुखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्नतु वास्तवी॥
भा. म. पु., पृ. ६८८

२. दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभावेन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबध्यते॥
वही. पृ. ६८९

सामान्य धर्म का स्वरूप इसी तरह से प्रकट है जिसमें भगवान् स्वयं कहते हैं कि जीव का परम धर्म और परम कल्याण इसमें है कि वह इस तापानुतापदायी संसार के चिन्तन से उदासीन होकर केवल ईश्वराभिमुख हो जाए। जो संसार धर्मों में विमोहित नहीं हैं, काम, कर्म और फलों में जो आबद्ध नहीं है , वही सच्चा भगवत् प्रिय है।[१]

विदेहराज भगवान् के समक्ष जब अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं तब वे यही पूछते हैं कि हे भगवन् ! उस भागवत धर्म का कथन कीजिए, जो मनुष्यों के लिए परमधर्म है, अर्थात् भागवत धर्म है।[२] इसी का आख्यान करते हुए भगवान ने कहा है कि जिसके मन में स्व और पर का विचार पृथक्-पृथक् नहीं है। जो सभी प्राणियों में समान दृष्टि रखता है तथा जिसका मन शान्त है वही परम् धार्मिक अर्थात् भागवत धर्म का अनुयायी है।[३]

....

१. संसार धर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवत प्रधानः।

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥
भा. म. पु., पृ. ६७०

२. अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
वही, पृ. ६७०

३. न यस्य स्व पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥
वही, पृ. ६७१

(ख) विशेष धर्म -

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में धर्म के दो भेदों का संकेत किया है। एक धर्म तो सामान्य धर्म है जो सभी के द्वारा पालनीय है। इसमें अहिंसा, सत्य, शौच, अनसूया, अनृशंसता सम्मिलित है।[१] दूसरे धर्म के रूप में आचार्य ने कहा है कि त्रयी धर्म अर्थात् वैदिक धर्म चारों वर्णों और चारों आश्रमों के द्वारा पालनीय होने के कारण सभी के लिए पालनीय है और इनके पालन करने से सभी का कल्याण निश्चित रूप से होता है।[२]

इस रूप में आचार्य कौटिल्य जब वर्णों के धर्मों का कथन करते हैं तब वे ब्राह्मण के लिए उनके धर्म का आख्यान करते हुए कहते हैं कि अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह ब्राह्मण के धर्म हैं।[३]

यह निर्विवाद रूप से कथन करने योग्य है कि प्राचीन समय में ब्राह्मण की श्रेष्ठता अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक महत्त्व से कही गई है। इसलिए ब्राह्मणों के कर्तव्यों का कथन करते हुए सर्व प्रथम तो यही कहा गया है कि वह अक्षर वेत्ता है। अक्षर का अभिप्राय विद्या ज्ञान और ईश्वरीय ज्ञान दोनों से हो सकता है। उपनिषद् मे एक स्थान पर यह कथन है कि जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता (अक्षरवेत्ता) हो, वह एक हजार गौंए प्राप्त करे।[४]

....

१. सर्वेषां अहिंसासत्यमनसूयाआनृशंस्यं क्षमा च।

कौ. अ., पृ. १४

२. एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः।

वही , पृ. १२

३. स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति।

वही , पृ. १२

४. तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मनिष्ठः स एता मा उद्वतानिति।

ई. द्वा. उ. , पृ. ३१७

इसी प्रकार से ब्राह्मण का सत्याचरण भी विशेषरूप से दृष्टव्य होता था। उसके जीवन में सत्य का पालन विशेष उदाहरणीय है। जो सत्य का पालन विशेष रूप से करता था। सत्यकाम जाबालि का आख्यान इसी रूप में उदाहरणीय है जिसमें उसने अपने पिता का परिचय न होने पर भी सत्य स्वीकार कर अपनी माता का नाम ही कहा था। जाबालि के इस प्रकार सत्य कहने पर ऋषि गौतम ने कहा था कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा सत्य नहीं बोल सकता।[१]

श्रीमद्भागवत पुराण में यह कहा गया है कि भगवान् की उपासना करने के बाद यह जानना चाहिए कि यह ब्राह्मण उसी भगवान् का मुख है।[२] इस पुराण में ब्राह्मण के लिए जिन धर्म रूप कर्त्तव्यों को कहा गया है वे एक प्रकार से उसके लिए श्रेष्ठ कार्य ही है। ब्राह्मण का जीवन श्रेष्ठ संस्कारों से युक्त होना चाहिए। उसे यज्ञ का सम्पादन करते रहना चाहिए,अध्ययन में प्रवृत्त होना चाहिए, दान देते रहना चाहिए और उसकी सभी क्रियाएँ ब्राह्मण वर्ण के अनुकूल होनी चाहिए।[३]

....

१. छान्दो . पृ. ३८४

२. भा. म. पु., पृ. ९७, ३९६

३. विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः।

शमोदमस्तपः शौचं सन्तोषः शान्तिरार्जवम्।

ज्ञानं दयोच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्॥

भा. म. पु. , पृ. ३७६, ५२८

आचार्य कौटिल्य ने जिन विशेष धर्मों का कथन अपने अर्थशास्त्र में किया है, वे सभी विशेष धर्म ब्राह्मण के लिए इस पुराण में उल्लिखित हैं। किन्तु साथ ही साथ ब्राह्मण के लिए उन सामान्य धर्मों का कथन भी इस पुराण में हैं जिनका कथन कौटिल्य ने सामान्य धर्म के रूप में किया है। ब्राह्मण के लिए धर्म का कथन करते हुए यह निरूपण है कि शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, शान्ति, आर्जव, ईश्वरभक्ति, दया सत्य ये ब्राह्मण की सहज स्वाभाविक प्रकृति है। जिसका अभिप्राय यह हुआ कि इन धर्मों का पालन ब्राह्मण किसी विशेष दबाव वश न करके स्वयं अपनी प्रकृति के अनुरूप करता है। सभी वर्ण और आश्रम ही नहीं जीव मात्र अपनी प्रकृति के वश होकर जैसे कार्य करते हैं, उसी प्रकार से ब्राह्मण इन धर्मों का पालन अपनी प्रकृति के स्वरूप से ही सम्पादित करता है।[१]

ब्राह्मण की श्रेष्ठता का सम्भवतः यही कारण भी है कि वह उन श्रेष्ठ गुणों का धारक और वाहक होता है, जो मनुष्य के श्रेष्ठतम गुण हैं और जो संस्कारों की श्रेष्ठता के प्रतिमान भी हैं।

....

१. वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः॥
शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः शान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥

भा. म. पु., पृ. ६९९-७००

क्षत्रिय -

क्षत्रिय के कर्त्तव्य रूप धर्म में यह कहा गया है कि वह अध्ययन करेगा, यज्ञ करेगा दान देगा तथा शस्त्रों के माध्यम से अपनी जीविका चलाकर समाज की रक्षा में अपना जीवन व्यतीत करेगा।[१]

क्षत्रिय के सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि वह भगवान् की भुजाओं से उत्पन्न हुआ है इसलिए शक्ति का प्रदर्शन और लोक रक्षण उसका दायित्व है। क्षत्रिय की महत्ता इतनी है कि राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठकर उपासना करते हैं और इसी से ब्रह्मभाव का अनुभव करते हैं।[२]

क्षत्रिय के कर्त्तव्य ही उसके धर्म हैं। यह संकेत श्रीमद्भागवत पुराण में किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि शौर्य, वीर्य, धृति, तेज, त्याग, विजय, क्षमा, प्रसन्नता और रक्षा करने का दायित्व क्षत्रिय के स्वभावज कर्म हैं और यही इसके धर्म भी हैं।[३]

एक स्थान पर यह संकेत किया गया है कि क्षत्रिय की आजीविका शस्त्रबल से चलती है। इस बल से वह पृथ्वी पालन का अत्युत्तम कार्य करता है। पृथ्वी का पालन करते हुए राजागण धन्य होते हैं क्योंकि पृथ्वी पर जो यज्ञ आदि कर्म होते हैं, उनका पुण्यांश क्षत्रिय को भी मिलता है।

....

१. क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं याजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणंच।
कौ. अ., पृ. १२

२. ई. ब्रा. उ., पृ. २८१

३. शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्यागात्मजयः क्षमाः।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्र लक्षणम्॥
भा. म. पु., पृ. ३७६

जो राजा अपने वर्ण-धर्म के प्रति आस्थावान होता है वह दुष्ट को दण्ड तथा साधुजन का पालन करते हुये परम प्रतिष्ठा पाने का अधिकारी हो जाता है।[१] इस रूप में क्षत्रिय का वर्णधर्म प्रमुख रूप से प्रजा की रक्षा करना ही है। अन्य उसके कर्त्तव्य उसके जीवन से जुड़े हुये हैं , जो उसके लिए धर्म हैं।

वैश्य -

द्विजाति में जन्म लेने के कारण वैश्य का महत्त्व भी अनेकशः प्रतिपादित किया गया है। जैसे एक स्थान पर यह कहा गया है कि ब्रह्म के द्वारा जब सृष्टि का विस्तार किया गया है तो यह विचार किया गया कि वह अपने ऐश्वर्य का प्रकटीकरण विना वैश्य के नहीं कर सकता। इसलिए उसने वैश्य की उत्पत्ति की। वैश्यों में द्विजातित्व प्रभावित है इसलिए यह संकेत है कि जो वैश्यकुल में जन्म लेता है, उसका आचरण अच्छा होता है।[२]

वैश्य के संन्दर्भ में स्मृतिकारों ने जो संकेत किये हैं, तदनुसार यह कहा जाता है कि वैश्य को पशुओं का पालन करना चाहिए, खाद्य पदार्थों का संरक्षण करना चाहिए, दान देने में अपनी प्रवृत्ति रखनी चाहिए, यज्ञ करने में रुचि होनी चाहिये। विद्याध्ययन के साथ वैश्य को कृषि कर्म भी करना चाहिये।[३]

....

१. शस्त्रजीवो महीरक्षा प्रवरातस्य च जीविका।
तत्रापि प्रथमः कल्पः पृथिवी परिपालनम्॥
धरित्री परिपालनेनैव कृतकृत्याः नराधिपाः।
भवन्ति नृपतेरंशाः यतो यज्ञादि कर्मणाम्॥
वि. पु. (१), पृ. ४०३-४०४

२. छान्दो., पृ. ५२९

३. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
म. स्मृ. , पृ. १८

श्रीमद्भागवत पुराण में वैश्य के लिए जिन कर्त्तव्य रूप धर्म का कथन किया गया है उनमें प्रमुख रूप से यह कहा गया है कि उसकी वृत्ति वार्ता वृत्ति होगी और वह सदा ब्रह्म कुल का अनुगामी होगा।[१]

वार्ता विद्या के सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य ने यह कहा है कि आन्वीक्षिकी, त्रयी, दण्डनीति की तरह से वार्ता भी एक विद्या है।[२] यह कृषि, पशुपालन, वाणिज्य के रूप में से जानी जाती है। यह विद्या धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थों तथा सेवक-सेविकाओं को देने वाली होने के कारण उपकारिणी है।[३]

इस रूप मे यदि विचार किया जाये तो यह कहना संगत प्रतीत होता है कि वार्ता विद्या के अन्दर वे सभी वैश्य-कर्तव्य भी आते हैं जिनसे समाज का परम उपकार होता है। भारतीय संदर्भ में तो यह और भी महत्त्वपूर्ण इसलिए हो जाता है क्योंकि कृषि से ही यहाँ का सम्पूर्ण समाज और जीवन चलता है। जिस विद्या से सम्पूर्ण समाज का उपकार हो वह तो धर्म है ही। इसलिए वैश्य के कर्त्तव्य ऐसे कर्म हैं जो उसके वर्ण के परम धर्म भी है और समाज के लिए परम उपकारक भी हैं।

....

१. वैश्यस्तुवार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगाः।

भा. म. पु., पृ. ३७६

२. वैश्यस्तु वार्ता वृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगाः।

कौ. अ., पृ. १०

३. कृषिपशुपाल्येवाणिज्या च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टि प्रदानादौपकारिकी।

वही., पृ. १५

<u>शूद्र</u> -

यद्यपि शूद्र को आज भी हीनता की दृष्टि से देखा और कहा जाता है किन्तु प्राचीन व्यवस्था में उसमें किसी तरह की भी हीनता का संकेत नहीं मिलता है। शूद्र के विषय में यह कहा गया है कि जब सृष्टि कर्ता ने वैश्यों के लिए कृषि कार्य का निर्धारण किया, तब यह आवश्यक हो गया था कि इसमें कार्य करने के लिए श्रमकर्मी भी चाहिए अत एव शूद्रों के कर्त्तव्यों को श्रम के साथ जोड़ा गया। देवता के रूप में पूषा देवता की कल्पना शूद्र देव की कल्पना है और पूषा के लिए यह कहा गया है कि यह सभी वर्णों का पोषण करता है। पोषण करने से इसका महत्त्व अधिक है।[१]

शूद्र के कर्त्तव्यों में आचार्य मनु ने यह कहा है कि यह सभी वर्णों की सेवा करेगा।[२] श्रीमद्भागवत पुराण में यह निरूपित है कि शूद्र अन्य वर्णों की आज्ञा मानकर उनके द्वारा निर्देशित कर्म करे तथा द्विजाति की वृत्ति का अनुगमन करे।[३]

आचार्य कौटिल्य ने अवश्य यह संकेत किया है कि शूद्र द्विजाति की सेवा के साथ-साथ, गायन, वादन आदि का कार्य भी करे।[४]

....

१. स नैव व्यभवत् स शूद्रवर्णमसृजत् पूषणमियं वै पंषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किं च।

ई. ब्रा. उ., पु. २८१-२८२

२. म. स्मृ., पृ. १८

३. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्।

भा. म. पु., पृ. ३७६

४. कौ. अ., पृ. १३

(ग) आश्रम धर्म -

आश्रम शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिस स्थान पर पहुंचकर व्यक्ति अपने कर्त्तव्य रूप धर्म के पालन के लिए श्रम करे, वह आश्रम है।[१] इस रूप में मनुष्य के चार आश्रमों का कथन किया गया है। ये आश्रम हैं - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इन आश्रमों में रहकर अपना जीवन व्यतीत करता हुआ व्यक्ति अपने-अपने लिए निर्धारित कर्म का सम्पादन करता था और वही कर्म उसके जीवन के धर्म होते थे। इन आश्रमों के कर्मों से ही व्यक्ति अपने जीवन में श्रेय तथा प्रेय की प्राप्ति कर पाता था, इसलिए इन्हें धर्म भी कहा जाता है। कई स्थल ऐसे हैं जहाँ पर यह कहा गया है कि आश्रम कार्य धर्मरूप है।

ब्रह्मचर्याश्रम धर्म -

इस आश्रम का प्रचलन प्राचीन काल से था, यह निर्विवाद रूप से इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य की अवस्था का संकेत करने वाले शब्द ब्रह्मचारीनिरता है।[२] इसके साथ ही इसके महत्त्व के विषय में यह संकेत है कि आचार्य उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता है और ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की।[३]

....

१. यद् वा आ समन्ताच्छ्रमो वा। स्वधर्म साधनक्लेशात्।

वै. सा. सं., पृ. १७५

२. ब्रह्मचारी चरित वेविषद् विष: स: देवानां भवत्येकमंगलम्।

ऋग् १०/१०९/५

३. अथर्व., ११/५/३

इसी महापुराण में एक अन्य स्थान पर भी इसी तरह के भाव व्यक्त किये गये हैं और कहा गया है कि जन्मोत्तर काल के बाद समय से ब्राह्मण उपनयन संस्कार से संस्कारित होकर अपनी इन्द्रियों का दमन करता हुआ आचार्यकुल में रहकर विद्याध्ययन करे। ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह नित्यप्रति अग्नि में हवन करे तथा उसकी उपासना करे और गौ, विप्र तथा गुरु को आदर देकर पवित्रता का जीवन जिये। उसका यह धर्म है कि वह अध्ययन के साथ-साथ ईश्वर के ध्यान में भी अपना जीवन का समय दे और आचार्य की सेवा में इस प्रकार से निरंतर रहे जैसे कोई सेवक अपने स्वामी की सेवा में रत रहता है। वह गुरु के पास रहकर सदा इस प्रकार से तत्पर रहे जिससे गुरु के द्वारा प्राप्त आज्ञा का पालन तत्परता से कर सके। ब्रह्मचारी के लिए इसी प्रकार के कथन का सन्दर्भ अन्य स्थानों पर दिया जा सकता है , जिसमें यह कहा गया हैं कि वह इन्द्रिय-निग्रही हो, धैर्य रखने वाला होवे और स्वाध्याय में सदा अपनी प्रवृत्ति बनाये रहे।[१]

एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि जन्म से आठवें वर्ष में अपने - अपने गृह्यसूत्र के आधार पर यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कारित होवे। उपनिषद् यह कहती है कि जो ब्रह्मचर्य आश्रम में अपना जीवन जी रहा है वह आचार्य कुल में रहकर अपने जीवन को अत्यन्त रूप से क्षीण करता है और इस प्रकार वह धर्म के तृतीय स्कन्ध का पालन करता है।[२]

....

१. द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याजन्मोपनयनं द्विजः।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः॥
अग्निकार्याचार्यगोविप्रगुरु बृद्धसुरांछुचिः।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवान् जपन्॥
शुश्रूषमाणं आचार्यं सदोपासीत नीचवत्।
यानशय्या स्थानैर्नातिदूरे कृतांजलिः॥
भा. म. पु., पृ. ७००

२. म. पु. (१), पृ. १३८

ब्रह्मचर्याश्रम मनुष्य जीवन का प्रथम आश्रम है। इसलिए इसमें जो कर्त्तव्य निर्धारित थे, वे एक प्रकार से मनुष्य जीवन के नीव के पत्थर जैसे थे।[१] इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी मितभुक्त हो, अल्पभाषी हो और अल्पनिद्रा लेने वाला हो, वह कभी स्त्री विषयक बात न करे, जिससे उसके मन में राग उत्पन्न होने की सम्भावना रहे। इस प्रकार की साज-सज्जा न करे। वह सदा सत्य का भाषण करे और कभी भी किसी अवस्था में असत्य का आचरण न करे।[२]

श्रीमद् भागवत पुराण में भी इसी प्रकार के कर्त्तव्यों का कथन ब्रह्मचारी के लिये किया गया है। जिसमें यह संकेत है कि ब्रह्मचारी सुशील स्वभाव का हो, अल्पभोजी हो, दक्ष, श्रद्धावान तथा जितेन्द्रिय होवे। स्त्री की मर्यादा सुरक्षित बनी रहे। इस विषय में यह कहा गया है कि स्त्री अग्नि है और पुरुष घृतकुम्भ है। इसलिए इनके सम्पर्क का विचार सावधानी से करना चाहिए।[३]

....

१. छान्दो., पृ. २१५

२. अभ्यंगनं अंजनं चक्ष्णोरूपानह छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपातं परस्य च॥
म. स्मृ. २/१७७ - १८०

३. सुशीलो मितभुक् दक्षः श्रद्धाधानो जितेन्द्रियः।
यावदर्थं व्यवहरेत स्त्रीषु ....॥
भा. म. पु., पृ. ३७७

गुरु की आज्ञा प्राप्त कर ब्रह्मचारी भिक्षा प्राप्त कर वेदाध्ययन करे।[1] विद्या प्राप्त करने के कारण ब्रह्मचारी साधु है इसलिए उसका यह कर्त्तव्य है कि वह सदा-सर्वदा गुरु हित कार्यों में प्रवृत्त रहे।[2] एक पुराण का संदर्भ यह संकेत करता है कि आचार्य द्वारा दी गई विद्या का मूल्य तो नहीं चुकाया जा सकता है किन्तु ब्रह्मचारी का यह कर्त्तव्य तो अवश्य होता है कि वह विद्याध्ययन के पश्चात् पढ़ी हुई विद्या का परिसम्पत्ति के रूप में आचार्य को गुरु दक्षिणा अवश्य समर्पित करे।[3]

ब्रह्मचर्याश्रम के नियम यद्यपि अध्ययन-अध्यापन की श्रेष्ठ परम्परा के रक्षण के लिए मुख्य रूप से निर्धारित हैं तथापि हम यह देख सकते हैं कि ब्रह्मचारी के लिए सत्य बोलना, विद्या ग्रहण करना और स्त्री प्रसंग से दूर रहकर आचार्य की सेवा करना ऐसे कर्त्तव्य हैं, जो व्यक्ति के परम धर्म बन सकते हैं। ब्रह्मचारी ही नहीं अपितु कोई भी व्यक्ति यदि केवल सत्य का आश्रय अपने जीवन में ले ले तो वह धर्म का पूर्ण पालन करने वाला ही माना जाएगा, क्योंकि "सत्यान्नास्ति परोधर्मः" जैसे वाक्य इस देश की धर्म-परिभाषा के परम निर्देशक हैं।

....

१. गर्भाष्टमेवाब्दे स्वसूत्रोक्तविधानतः।
दण्डी च मेखली सूत्री कृष्णाजिनधरो मुनिः॥
भिक्षाहरो गुरुहितो वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्।
कू. पु., पृ. ३६५

२. वा. पु. पृ. ९३

३. ब्र. वै. ब्र. ख. २४/९

गृहस्थ धर्म -

मनुस्मृतिकार ने कहा है कि ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न हो जाने पर गुरु की अनुमति लेकर सभी लक्षणों से युक्त कन्या के साथ विवाह करे।[१] इसी के साथ इस आश्रम के महत्त्व प्रतिपादन में यह भी निरूपित है कि जिस प्रकार सभी नद और नदी सागर की ओर जाते हैं, उसी प्रकार से सभी आश्रमवासी आश्रम प्राप्त करने के लिए गृहस्थ की ओर जाते हैं।[२]

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का कथन करने के साथ यह कहा गया है कि इस आश्रम में निवास करने वाले व्यक्ति को विनम्र, श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, तथा पतिपरायणा पत्नी के साथ विवाह करना चाहिए।[३] यह आश्रम इसलिए श्रेष्ठ आश्रम है क्योंकि यह पुण्यवान् आश्रम है। गृहस्थ सर्वदा नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्मों को करता हुआ इस लोक में सुख भोगता है और स्वर्ग का अनुभव करता है। अपने धर्म का पालन करता हुआ गृहस्थ इस आश्रम में सुखी होकर यज्ञ, कीर्ति, पुण्य, धन पाकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

....

१. गुरुणानुमतः स्नात्वा समवृतो यथाविधिः।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्वितम्॥
म. स्मृ. ३/४

२. यथा नदी नदः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वाश्रमाः॥
वही, ६/९०, ३/७७

३. ब्र. वै. ब्र. ख. २४/९

४. वही, २३/८-११

गृहस्थाश्रम की महत्ता का आकलन करते हुए अन्य संदर्भों में भी यह निरूपित है कि यह आश्रम महत्त्वपूर्ण है और इस आश्रम में निवास करने वाले के लिए यह विहित है कि विधिपूर्वक विवाह कर यज्ञ करता हुआ अपने धर्म का आचरण करे और बिना सन्तानोत्पत्ति किए संन्यासाश्रम स्वीकार न करे।[१] वायु पुराण का यह कथन है कि चारों आश्रमों का मूल गृहस्थाश्रम है। इस प्रकार सभी प्रकार के व्रत और नियम इसी के लिए कहे गए हैं। इन नियमों में स्त्री स्वीकरण, अतिथि-स्वागत, यज्ञ सम्पादन, श्राद्ध क्रिया सम्मिलित हैं।[२] इस रूप में गृहस्थ के लिए उन धर्मों का कथन तो था ही जो अन्य आश्रमों में किए जाते थे किन्तु अतिथि सत्कार और प्रजा पालन जैसे धर्म-कर्म ऐसे थे, जो केवल गृहस्थ के लिए ही निर्धारित थे,और जिन्हें गृहस्थ के अतिरिक्त और कोई नहीं करता था।

....

१. दारानाहूत विधिवदन्यथा विविधैर्मखैः।
यजेत् उत्पादयेत्पुत्रान् विरक्तो यदि संन्यसेत ॥
अनिष्ट्वा विधिवद यज्ञैरनुत्पाद्य तथात्मजम्।
न गार्हस्थ्यं गृहं त्यक्त्वा संन्यसेद् बुद्धिमान द्विजः ॥
कू. पु., पृ. १९

२. चातुर्वर्णात्मकः पूर्वगृहस्थाश्रमः स्मृतः।
त्रयाणां आश्रमाणांच प्रतिष्ठापयोनिरिव ॥

दाराऽग्नयोऽतिथिश्रेय इज्याश्राद्धक्रियाः प्रजाः।
इत्येष वै गृहस्थस्य समासाद् धर्मसंग्रहः ॥
वा.पु., पृ. १५

श्रीमद्‌भागवत्‌ पुराण में गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं। वहाँ पर यह कहा गया है कि गृहस्थ अपने जीवन के सभी कार्य वासुदेव को अर्पित करने वाले भाव से करे। वह ईश्वर के विविध अवतारों की कथा को निरन्तर श्रद्धा पूर्वक सुनता रहे और सत्संग से वह इस प्रकार की वृत्ति प्राप्त करे जिससे उसका पुत्र-पौत्र मोह अन्त में छूट सके। गृहस्थ अपने श्रम से और सदाचरण से इतना ही अर्जित करे जितना उसके निर्वाह के लिए आवश्यक होवे। अपनी आवश्यकता से अधिक एकत्रित करना "स्तेन" है। धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग उसके जीवन में उसे मिले। ऐसा कार्य वह करता रहे। जो गृहस्थ अपने जीवन में यज्ञावशिष्ट अन्न प्राप्त करता है तथा जो ईश्वर ने दिया है, उतने में ही सन्तुष्ट रहता है , वह प्राज्ञ है और मनुष्य रूप में महत्‌ पदवी प्राप्त करता है। गृहस्थ के लिए यह अनिवार्य है कि वह देवताओं की अर्चना करे तथा ऋषियों और अभ्यागतों का सदा आतिथ्य करता रहे।[१]

....

१. गृहेष्वस्थितो राजन क्रियाः कुर्वन्‌ गृहोचिताः।
वासुदेवार्पण साक्षारदुपासीत महामुनीन्‌ ॥

यावद्‌ भ्रियेत्‌ जठरं तावत्‌ स्वत्वं हि देहिनाम्‌।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण स स्तेनो दण्डमर्हति।
यथादेशं यथाकालं यावद्‌ दैवोपपादितम्‌ ॥

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टान्नैः कल्पभेद वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन्‌ प्राज्ञः पदवीं महताभियात्‌ ॥

भा. म. पु. पृ. ३६०

<u>वानप्रस्थ धर्म</u> -

इस आश्रम में निवास करने वाले के लिए यह कहा गया है कि जब व्यक्ति के बाल पक जावे, त्वचा ढीली पड़ जावे तब विषय इच्छा से रहित होकर स्त्री को पुत्रों के संरक्षण में देकर अथवा उसे भी साथ लेकर वन का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। वसन्त, शरद आदि ऋतुओं में भी निरन्तर यज्ञकर्म करते रहना चाहिए। वानप्रस्थ में निवास करने वाले के लिए यह कहा गया है कि वह उन्हीं फल-मूलों का सेवन करे जो सुविधा से और ऋतु के अनुसार वन में उपलब्ध हो जाते हैं। वह किसी प्रकार का पका हुआ अन्न ग्रहण न करे। ग्रीष्म ऋतु में अग्नि में तपे और शीत ऋतु में जल में खड़े होकर तप सम्पादित करे। निरन्तर स्वाध्याय करता रहे तथा मित्रता की भावना से अपना जीवन जिए। निरन्तर दान में प्रवृत्त रहे और सभी प्राणियों के प्रति कृपाभाव वाला बना रहे।[१] वन में नियम पूर्वक निवास करने के कारण ही वानप्रस्थी को वानप्रस्थाश्रमवासी कहा गया है।[२]

....

१. गृहस्थस्तु यदा पश्येत् बलीपतितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा।
अग्निहोत्रं समादाय गृहं चाग्नि परिच्छिदम्॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥

ग्रीष्मे पंचतपास्तु यावद् वर्षास्वभावकाशिकः।
आर्द्रवासस्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयन् तपः॥

म. स्मृ., पृ. २२२-२२६

२. या. स्मृ. ३/४५ पर मिताक्षरा।

उपनिषद् उनको वानप्रस्थी कहती है जो तप और श्रद्धा से युक्त होकर शान्त भाव से भिक्षा का आचरण करते हुए वन में निवास करते हैं।[१]

पुराणों में आश्रम व्यवस्था का वर्णन विस्तार से है। इन आश्रमों में क्या करणीय है और क्या करणीय नहीं है? इसका भी विस्तार से विवेचन पुराणकार करते हैं। पुराणकार यह कहते हैं कि व्यक्ति की आयु का जब तीसरा भाग हो तो वह भार्या के सहित वन में निवास करे और नियमित अग्निहोत्र करता हुआ संतुलित आहार वाला होकर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाला होवे। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाले के लिए आवश्यक है कि वह ब्रह्मचर्य का पालन करता रहे। और कभी भी किसी भी परिस्थिति में असत्य का भाषण न करे। वह अतिरिक्त रूप से निद्रा के वशीभूत न हो और न ही आलस्य वाला होवे। सदा सावधान व जागरूक रहकर अपना समय व्यतीत करता रहे। अपना जीवन व्यतीत करने के लिए किसी प्रकार का संग्रह भी उसे नहीं करना चाहिए। संग्रह करने से उसकी वृत्ति संग्रही हो जाएगी, जिससे वह अपने मूल धर्म से विचलित हो जावेगा। उसके लिए तो यह भी आवश्यक है कि उसने जिन पदार्थों का पूर्व में संग्रह किया है, उनका भी परित्याग करे।[२]

....

१. तपः श्रद्धे ये हुवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वान्सो भैक्ष्यचर्यो चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः सपुरुषो ह्यव्यात्मा॥
मु.उ. १/२/११

२. कू. पु., पृ. ३४३-३४५

श्रीमद्भागवत पुराण में भी वानप्रस्थ आश्रमी के विषय में लगभग ऐसा ही कथन किया गया है और वहाँ पर वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वाले के धर्म का वर्णन किया गया है। जैसे कि यह उसी प्रकार का कथन है जैसा पहले कहा गया है कि इस आश्रम में निवास करने वाला आयु के तृतीय भाग में वानप्रस्थ आश्रम में जावे। वहाँ पर रहकर कन्द, मूल आदि का भोजन करे और प्रकृति से जो प्राप्त हो जावे, उसी पर पूरी तरह से निर्भर रहे। तृण, पर्ण और अजिनधारण कर अपने शरीर की रक्षा करे।[१]

वानप्रस्थी के लिए यह भी कहा गया है कि वह अपने जीवन निर्वाह का यत्न स्वयं ही करे। किसी अन्य पर अपने कार्यों के लिए आश्रित न रहे।[२] उसका यह धर्म है कि कृषि कार्य से शुद्धि पूर्वक जो भी प्राप्त हो जावे उसी का भोजन ग्रहण करे और उसी का पुरोडाश बना कर यज्ञ कार्य में प्रवृत्त रहे। जो पुराना अन्न संचित भी हो, नवीन अन्न के बाद उसका परित्याग कर दे क्योंकि संचयन करना यह ब्राह्मणों और वानप्रस्थियों के लिए वर्जित है।[३]

....

१. कन्दमूलफलैमेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत्।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च॥
भा. म. पु., पृ. ७०१

२. स्वयं संचिनुयात् सर्व आत्मनो वृत्तिकारणम्।
देशकालवलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम्॥
वही, पृ. २०१

३. न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः।
लब्धे नवे नवान्नाद्ये पुराणं तु परित्यजेत्॥
वही, पृ. ३७८

संन्यास धर्म-

"समन्तात् न्यास:", "सम्यक् प्रकारेण न्यास:" इन व्युत्पत्तियों के अनुसार इस आश्रम का साधक सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर, सर्वतन्त्र सम्पन्न होकर विचरण करता है।[1] इस रूप में उसके विचरण करने के लिए जो नियम और व्रत कहे गये हैं , वे ऐसे हैं जिसमें उसे सभी कुछ त्यागने और इच्छा तथा द्वन्द्व रहित हो जाने के लिए कहा गया है। संन्यासी की जीवन यात्रा ऐसी हो जिससे वह किसी एक स्थान पर रुके नहीं और निरन्तर चलता रहे। इसका कारण सम्भवत: यह है कि कहीं पर स्थायी रूप से रुकने पर उसके मन में किसी विषय अथवा किन्हीं विषयों के प्रति आकर्षण न उत्पन्न हो जावे। वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वाले के मन में किसी के प्रति हिंसा का भाव न हो और न ही उसके मन में माया, क्रोध और अहंकार का भाव होवे। उसे जो भी अयाचित रूप से मिल जावे उसे प्राप्त कर ले तथा किसी से भी किसी प्रकार की याचना न करे। वानप्रस्थी में यह गुण हो कि वह स्त्री-प्रसंग से दूर रहे और किसी भी प्रकार से स्त्री का संग न करे।[2]

....

१. ब्र. वै. सांअ., पृ. १७९

२. य: सर्वसंगनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्च निर्भय: ।
प्रोच्यते ज्ञानसंन्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थित: ॥
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं निराशी निष्परिग्रह: ।
प्रोच्येत वेदसंन्यासी मुमुक्षुर्विजितेन्द्रिय: ॥
यस्त्वग्नीनात्मसात्कृत्वां ब्रह्मार्पणपरो द्विज: ।
ज्ञेय: स कर्म संन्यासी महायज्ञपरायण: ॥
कू. पु., पृ. ३४६

श्रीमद्भागवत महापुराण में भी संन्यासी के लिए अनेक आचरणों का कथन किया गया है। जैसे कि वहाँ पर कहा गया है कि भिक्षा करने वाला भिक्षु केवल अकेला होकर ही विचरण करे, वह कहीं भी समूह में रहकर विचरण न करे। उसका समर्पण पूरी तरह से नारायण के प्रति होवे। किन्तु उनके मन में सभी के प्रति आत्मभाव हो, और वह किसी से भी द्वेष करने वाला न होवे। उसकी बुद्धि सद् और असद् की विवेकी होवे तथा वह इस संसार में अनित्य एवं नित्य का भेद कर सकता हो जो नित्य है उसी का साक्षात्कार करना उसका लक्ष्य हो और अनित्य के प्रति उसके मन में आकर्षण न होवे। उसे सद् में आत्मज्ञान निश्चित रूप से हो और उसी ज्ञान में रमकर आनन्द का अनुभव करे।[१]

सन्यासी के लिए मुनि शब्द का प्रयोग किया इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि मुनि के लिए जो आचरण कहे गये हैं, वे सभी संन्यासी के आचरण हैं। संन्यासी केवल कौपीन धारण करे, दण्ड और पात्र के अतिरिक्त उसके पास और कुछ नहीं होवे। भूमि में अकेला विचरण करे तथा संयतेन्द्रिय होकर आत्मवान होवे।[२]

....

१. एक एव चरेद् भिक्षुरात्मारामोऽनाश्रयः।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः॥
पश्येदात्मन्यदो विश्वंपरे सदसतोऽव्यये।
आत्मानं च परब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये॥
भा. म. पु., पृ. ३७८

२. विभृयाचेन्मुनिर्वासः कोपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं च दण्डयात्राभ्यां अन्यत् किंचिदनापदि॥
एकेश्वरेन्महीमेतां निःसंगः संयतेन्द्रियः॥
वही, पृ. ७०२

(घ) लौकिक धर्म -

सांसारिक संरचना में यह निश्चियात्मक रूप से कहा गया है कि यह लोक दो प्रकार से अवस्थित है। इसका एक प्रकार है लौकिक और दूसरा प्रकार है पारलौकिक। इसीलिए धर्म का जब विवेचन होता है तो इसको भी द्विविधरूपों में कहा जाता है - एक लौकिक धर्म के रूप में और एक पारलौकिक धर्म के रूप में। लोकधर्म का आचरण यद्यपि लोक-शुचिता के लिए ही है तथा लोक शुचिता के माध्यम से ही अलौकिक जीवन की सिद्धि भी होती है। इसलिए लोकधर्मों का कथन करते हुए यह भी कहा जाता है कि इनके ही माध्यम से परम् कल्याण की प्राप्ति भी सम्भव है। श्रीमद्भागवत् महापुराण में एक स्थान पर इसी प्रकार का संकेत इस रूप में है जिसमें यह कहा गया है कि श्री भगवान् वासुदेव श्रीनारायण जी से उस भागवत धर्म को सुनना चाहते हैं जिसे सुनकर और जिसका आचरण कर संसार के प्राणी लोकभय से मुक्त हो जाते हैं।[१]

इस रूप में जो धर्म कहे गये हैं, उनमें यह कहा गया है कि संसार के दु:ख नाश के लिए और सुखों की प्राप्ति के लिए जीव को अपने कर्म आरम्भ करने चाहिए। इस लोक को नश्वर मानकर कर्म के द्वारा इसमें नि:श्रेयस् का अन्वेषण करना चाहिये। ऐसे नि:श्रेयस् की प्राप्ति हेतु सर्व प्रथम गुरु की उपासना श्रेष्ठ है।[२]

....

१. ब्रह्मस्तथापि पृच्छामि धर्मान् भागवतांस्तव।
यांछ्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात्॥
भा. म. पु., पृ. ६६८
अथ भागवत ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः॥
वही, पृ. ६७०

२. तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेयमुत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपसमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः॥
वही, पृ. ६७२

लौकिक धर्मो के इस क्रम में वहाँ पर यह कहा गया है कि धर्म पालक को चाहिए कि वह सभी के प्रति दया भाव वाला होवे, उसका मित्रता का स्वभाव हो, सभी प्राणियों को आश्रय देवे । शौच, तप, तितिक्षा, मौन तथा स्वाध्यायरत रहने वाला होवे । धर्म का पालक हो, ब्रह्मचर्य के प्रति पूरी निष्ठा रखता हो और वह ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ अपना जीवन जिये। किसी भी जीव की हिंसा करने में उसकी प्रवृत्ति न हो और वह पूरी तरह से अहिंसा व्रत का पालन करने वाला होवे। संसार में जितने भी प्राणी हैं वे सभी उसकी दृष्टि में समान होवे और इस प्रकार वह व्यक्ति समदर्शी हो। वह सदा सर्वदा संतोष का जीवन जिये, भागवत धर्म में उसकी अटूट आस्था हो , सम दम त्यागादि का पूरी तरह से पालन करने वाला होवे। भागवत कथा का श्रवण करने वाला होवे। भगवान् का स्मरण करने वाला होवे। वह सदा-सर्वदा ईश्वर के अद्‌भुत गुणों और उसके अदभुत चरित्रों का स्मरण करता रहे। उनका आख्यान करता रहे। भगवान् की परम पावन कथा का परस्पर कथन करे। स्वयं कथा कहे और दूसरे को सुनाता हुआ, दूसरों के द्वारा कही गई कथा को प्रेम और श्रद्धा पूर्वक सुने। कभी भगवान् की मधुर लीला का स्मरण करते हुये हंसता हुआ अपना समय व्यतीत करे कभी भगवान् के यश का गान करता हुआ नृत्य करने लगे और कभी भगवान् की लीला में इतना अधिक आत्मविस्मृत हो जाए कि रोदन करने लगे। इस प्रकार जो भगवान् को आश्रय मानकर भागवत धर्म का पालन करता है वह इस दुरूह माया से पार पा जाता है।[१]

इस रूप में लोकधर्म शुचिता के हेतु हैं और इनका पालन करने वालों का जीवन परम पवित्र और श्रेष्ठ होता है। साथ ही धर्म की धारणा करने के अर्थ में जो अवधारणा है, वह भी सार्थक होती है।

....

१. शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्याय आर्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसाच समत्वं द्वंद्वसंज्ञयोः ॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं संतोषं येन केनचित् ॥
भा. म. पु., पृ. ७२

लोकधर्मों के प्रतिपादन में एक अन्य स्थान पर चारो युगों के धर्मों का कथन किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि सत्युग में धर्म सम्पूर्ण रूप से विद्यमान था किन्तु बाद के युगों में क्रमश: उसका एक पद का ह्रास होता गया। सतयुग में सत्य, दया, तप,दानरूपी धर्म अपने सम्पूर्ण रूप से विद्यमान था। तब संतुष्टि, करुणा, मित्रता, तथा समत्वदृष्टि का इतना अधिक महत्त्व था कि यही जीवन का परमश्रेय था। द्वापर में सत्य, दया, तप, और दान का ह्रास हो गया तथा त्रेता में इसके एक पद का ही ह्रास हुआ था। कलिकाल में तो धर्म का अत्यल्प अंश ही शेष है और इस समय मनुष्य में धूर्तता, छल, तथा प्रपंच का आधिक्य ही अधिक मात्रा में दिखाई देता है। इसलिए यह कहा गया है कि इस युग में भगवान् को हृदय में धारण करना ही परमधर्म है;क्योंकि तप, दान, सत्य, विद्या आदि आत्मा की शुद्धि उतनी अधिक नहीं करते हैं जितनी शुद्धि ईश्वर को हृदय में धारण करने से होती है।[१]

....

१. कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पान्तजनैः धृतः।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ।।
सन्तुष्टाः करूणा मैत्री शान्ता दान्तास्तितिक्षवः।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ।।

त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः।

तदा क्रियातपो निष्ठा नातिहिंसा न लम्पटाः।

तपः सत्यदयादानेष्वर्धं ह्रसति द्वापरे।

सत्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः।
कालसंचोदितास्ते वै परिवर्तन्त आत्मनि ।।
भा. म. पु., पृ. ७३५

(ङ) पारलौकिक धर्म -

जिस ज्ञान-विचार और व्यवहार से व्यक्ति का इहलोक ही नहीं परलोक भी पूर्णता की ओर बढ़े, उसे पारलौकिक धर्म कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस ज्ञान, चिन्तन और मनन से मनुष्य का परलोक शुचितापूर्ण हो, वह पारलौकिक धर्म है। इसी दृष्टि से भगवान् श्रीकृष्ण स्वयम् कहते हैं कि उद्धव ! मैं वह धर्म तुमसे कहता हूँ जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करने से मृत्युलोक का निवासी मनुष्य दुर्जेय मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। वह ऐसा व्यक्ति है जो सभी प्रकार के कर्म करता हुआ अपने सभी कर्मों को तथा अपने मन और चित्त को भी मुझमें अर्पित कर देता है।[१]

इस धर्म का कथन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि व्यक्ति के मन में जब तक सभी के प्रति समत्व और एकत्व का भाव नहीं उत्पन्न हो जाता तब तक ही उसके लिए बाह्य उपासनादि कर्मों की आवश्यकता है और तभी अपने उपासनादि कर्मों से वह अपने लोक जीवन में सुख प्राप्ति कर पाता है। जब व्यक्ति सम्पूर्ण भू मण्डल के प्रत्येक कण-कण में ब्रह्म की सत्ता का अनुभव करता है तभी यह जाना जाता है कि वह सभी सांसारिक कार्य कलापों से उपरमित हो गया। भगवान् कहते हैं कि यह विचार और यह व्यवहार ही सभी के लिए सभी समय में मेरा परम मत है क्योंकि सभी जीवों में मन, वाणी और कर्म से मेरा दर्शन कर व्यवहार करना ही समीचीन है अन्यथा कोई अन्य धर्म आचरित करते हैं, वह सभी निरर्थक होता है, और ऐसा प्रयत्न केवल प्रयत्न मात्र ही कहा जा सकता है और उसकी किसी प्रकार की सार्थकता नहीं कही जा सकती है। यही बुद्धिमान जनों की बुद्धि का चरम उत्कर्ष है और यही मनीषियों की मनीषा है।

....

१. हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमंगलान्।
यांछ्रद्धयाचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥
कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थे शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥
भा. म. पु., पृ. ७२३

सत्य और अनृत् के दर्शन से तथा इनके जीवन-दर्शन से ही व्यक्ति मृत्युधर्मा होता हुआ भी अमृत पद पाने का अधिकारी हो जाता है।[१]

भगवान् श्रीकृष्ण ने संसार और संसार की माया के प्रति उदासीन भाव से रहकर अपना जीवन व्यतीत करने वालों के जो कर्म कहे हैं, वे परमधर्म हैं और उन कर्म रूपी धर्मों से जीव का परलोक सुधरता है। भगवान् कहते हैं कि मेरा स्वरूप न बद्ध है और न मुक्त। यह जो बन्धन और मोक्ष दिखाई देता है वह केवल गुण मात्र में ही होता है। गुणों के मूल में माया है इसलिए मायात्मकता के कारण बन्धन और मोक्ष है। मैं माया से परे होने के कारण बन्धन और मोक्ष से परे हूँ। जिस प्रकार स्वप्न में कोई संसार का निर्माण देखता है और स्वप्न में ही वह देखता है कि संसार का विनाश होता है, उसी तरह से जीव रूप में मुझमें न किसी प्रकार का सुख होता है और न ही किसी प्रकार का दुख होता है क्योंकि शरीर भी मायात्मक ही है। इसलिए इसी मायात्मक शरीर में सुख और दुख होते हुए देखे जाते हैं।[२]

....

१. बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुत:।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥
शोक मोहौ सुखं दुखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यथात्मन: ख्याति: संसृतिर्नतु वास्तवी॥

विद्याविद्ये ममतनू विद्ध्यविद्ध शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते:।
बन्धोऽस्याविद्यया नादिर्विद्या च तथेतर:॥

भा. म. पु., पृ. ६८८

भगवान् कहते हैं कि उद्धव ! जो विद्वान हैं, वे देहधारी होते हुए भी देहरहित हैं और जो अविद्वान हैं वे यथार्थ में देह न होने पर भी देहवान होने का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों में गुण-माध्यम से संसार का सभी व्यवहार करती हैं। ''मैं'' क्रियावान हूँ और कोई भी क्रिया मुझे बाधित करती है - ऐसा विचार भी अविद्वान का विचार है। यह जो मनुष्य का शरीर है, वह दैवाधीन है गुणों और गुणाश्रित कर्मों के कारण यह संचालित होता है। बार-बार इसका बनना और बिगड़ना भी इसके गुणों और कर्मों पर ही आधारित है। इसलिए जो विद्वान हैं, वे इसमें बंधते नहीं हैं। जैसे प्रकृति के सम्पूर्ण पदार्थों के बीच रहते हुए भी आकाश, वायु और अग्नि इसमें बन्धने वाले नहीं होते। अत एव इस भाव से जो बंधन मुक्त हैं, वह मुक्त पुरुष शब्द ब्रह्म में पारंगत होकर न किसी की निन्दा करता है और न ही किसी की स्तुति करता है। गुण-दोषों से वर्जित रहकर वह जड़वत् की तरह अपना जीवन व्यतीत करता है और यही उसका अलौकिक धर्म है।[१]

(च)परिवार सम्बन्ध और धर्म-

समाज परिवार-समूह का एक संवेदनात्मक स्वरूप है। परिवार से ही समूह बनता है और इसीलिये यह कहा जा सकता है कि परिवार समाज की एक इकाई है। परिवार में पति,पत्नी, माता, पिता और पुत्र,पुत्री के अतिरिक्त भारतीय परम्परा के अनुसार गुरु और शिष्य को भी माना जा सकता है क्योंकि गुरु और शिष्य के सम्बन्ध का महत्त्व इसलिये अधिक है क्योंकि इस सम्बन्ध को पुत्र और पिता के सम्बन्ध के सदृश कहा गया है। यह सम्बन्ध ज्ञान की पृष्ठभूमि पर आधारित है और इसका धर्म-स्वरूप बहुत स्पष्ट है।

....

१. देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।

इन्द्रियार्थैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गुह्यमाणेष्वहंकुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥
दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्ताहमिति निबध्यते॥

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
आत्मारामे'ऽनया कृत्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥ भा. म. पु., पृ. ६८९

परिवार के इस स्वरूप में भी श्रीमद्भागवत में सभी का अपना-अपना व्यवहार और आचरण दिखाई देता है। इसमें मुख्य रूप से पति और पत्नी का स्वरूप इस तरह का देखने को प्राप्त हो जाता है जिसमें पति पत्नी की इच्छा का सम्मान कर अपने पति धर्म का पालन करता है और पत्नी पूरी तरह से पति को समर्पित हो अपने पतित्व के प्रति एकनिष्ठा का प्रदर्शन करती है।

इस महापुराण मे एक पति सुदामा ऐसे हैं जो पति रूप में बड़ी कठिनता से अपनी पत्नी का और परिवार का पालन-पोषण कर पा रहे हैं। जब उनकी पत्नी उनके मित्र कृष्ण का स्मरण कराती है तो मित्र धर्म के नाते वे मित्र से केवल मित्रता का ही संबंध रखना चाहते हैं और अपने जीवन में अपने मित्र से किसी प्रकार का कोई सहयोग नहीं लेना चाहते हैं। फिर भी जब उनकी पत्नी उन्हें श्रीकृष्ण के पास जाने को विवश करती है तो वे अपने बाल सखा के पास जाते हैं। यह उनका अपने परिवार और अपनी पत्नी के प्रति पति रूप में पालन करने का जो धर्म है, उसी को निर्वाह करने का प्रयास है।

भगवान् शिव पति रूप में इस प्रकार से अपने पति धर्म का पालन करते हुए दृष्टिगत होते हैं, जब वे दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस करने के लिए अपने गणों को भेजते हैं। उनकी पत्नी सती भगवान् शिव का अपमान अपने पिता के यहां देखकर अपना शरीर त्याग देतीं हैं और पत्नी के अपमान का बदला लेने के लिए ही भगवान् शिव दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करते हैं [१]।

....

१. भवोर्भवान्या निधनं प्रजापतेरसत्कृताया अवगम्य नारदात्।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुऽर्विद्रावितं क्रोधमयारमादधे॥
क्रुद्ध:सुदष्ठोष्ठपुरः स धुर्जटिजटां तडिद्वहिसटोंग्ररोचिषम्।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन् गम्भीर नादो विसर्ज तां भुवि॥
भा.म.पु.,पृ. १९१

इसी प्रकार से द्रोणपुत्र जब द्रौपदी के सोते हुए पुत्रों का वध कर देता है तो द्रौपदी अपने पुत्रों को स्मरण कर बहुत अधिक व्याकुलता का अनुभव करती हैं। इस स्थिति में पति अर्जुन न केवल द्रौपदी को सान्त्वना प्रदान करते हैं, अपितु अपने पराक्रम से द्रोणपुत्र को बांधकर ले आते हैं और बाद में द्रौपदी के ही कहने पर द्रोणपुत्र को मुक्त कर देते हैं ।[१]

....

१. अथोपेत्यं स्वशिविरं गोविन्दप्रियसारथिः।

न्यवेदयत् तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ॥

तथाहृतं पशुवत्पाशबद्धं अवाङमुखं कर्मजुगुप्सितेन।

निरीक्ष्यकृष्णाप्यकृतं गुरोःसुतंवामस्वभावा कृपयाननाम च ॥

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती।

मुच्यतामुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥

विमुच्यरसनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ॥

भा.म.पु.,पृ. ६१

पत्नी के लिए श्रीमद्भागवत में यह कहा गया है कि वह पति को ही अपना एक मात्र देवता मानकर उसकी सेवा करे और ऐसा कार्य करती रहे जिससे उसे पति की अनुकूलता सदा-सर्वदा प्राप्त होती रहे। कहा तो यहाँ तक गया है कि वह अपने पति की सेवा इस प्रकार से करे जैसे उसका पति ही उसके लिए हरि है। यदि पत्नी पति की सेवा हरि भाव से करती है तो वह अवश्य ही हरिलोक को प्राप्त होती है।[१]

हरि रूप में पति धर्म का पालन करने वाली पत्नियों के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण की अनेक पत्नियों का उल्लेख किया जा सकता है जो अपने पति श्रीकृष्ण को एकनिष्ठ होकर चाहती हैं और अपना सर्वस्व मानकर उनकी सेवा करती हैं।

द्रौपदी जब एक बार रुक्मणी, जाम्बवती, कालिंदी, भद्रा आदि से उनके विवाह के सम्बन्ध में पूछती हैं तो वे सभी एक स्वर में कहती हैं कि हमारा सम्पूर्ण प्रेम श्रीकृष्ण पति के चरणों में समर्पित है।[२]

....

१. स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता।

वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम्।

संतुष्टालोलुपादक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक्।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्॥
या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिवमोदते।
भा. म. पु., पृ. ३७६-३७७

२. निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजाविमूथान तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय।
x x x x x x x x
सख्योपेत्याग्रहीत् पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जिनी।
वही, पृ. ६४४-६४५

पत्नी के रूप में अपना धर्म पालन करने वाली अनेक पत्नियों का स्वरूप श्रीमद्भागवत में देखा जा सकता है। द्रौपदी इसमें इस प्रकार की एक पत्नी है जो पाँच-पाँच पतियों को विवाहित है किन्तु संयोगत: ऐसा होने पर वह अपने जीवन का निर्वाह इस प्रकार से करती है, जिससे उसके पाँचों पति परम संतोष का अनुभव करते हैं।

इसी प्रकार एक पत्नी देवहूति का उल्लेख भी यहाँ पर किया जा सकता है जो कर्दमऋषि को विवाही गई, वह राज कन्या यद्यपि राजपरिवार में जन्मी और राजवैभव की अभ्यस्त थी किन्तु जैसे ही उसका विवाह ऋषि के साथ हुआ और वह वन में आई, वैसे ही उसने अपने जीवन का दृष्टिकोण ही बदल दिया। वह परम प्रसन्न होकर पति सेवा को अपना परम धर्म मानकर पति की सेवा में लग गई और उसने वन में रहते हुए भी वन की कठिनता का अनुभव नहीं किया। उसने अपने पति की सेवा करते हुए अपने मन की सभी कामनाओं का परित्याग कर दिया। दम्भ, लोभ और ईर्ष्या त्याग कर आकांक्षा रहित हो गई। उसने अपने पति की सेवा इस रूप में की जैसे कोई भक्त भगवान् शिव की पूजा करता है। ऐसा करते हुए उसके पति उससे परम प्रसन्न हुए।[१]

....

१. पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम्।

विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम्।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्॥

कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया।
प्रेमगदगदया वाचा .... ॥
भा. म. पु., पृ. १५९

पति के रूप में सुदामा, अर्जुन आदि ऐसे पति हैं जो पत्नी के प्रति न केवल पूर्ण रूप से समर्पित हैं अपितु वे पत्नी का पालन-पोषण करने और उनका मान रखने के लिए अपने कर्त्तव्य का पालन उस अवस्था में भी ठीक प्रकार से करते रहें जिस अवस्था में उनका सामान्य भरण-पोषण भी नहीं हो पा रहा था। जब उनकी पत्नी उन्हें उनके बाल सखा कृष्ण का स्मरण कराकर कहती है कि वे उनके पास जाए तो सुदामा संकोच का अनुभव करते हुए भी पत्नी के प्रति समर्पित होकर द्वारिका जाते हैं।

इसी प्रकार से द्रौपदी के पुत्रों के वध किये जाने पर अर्जुन अपनी पत्नी के दु:ख से दुखी होकर द्रोणपुत्र को दण्डित करने के लिए उद्यत होते हैं।[१]

पिता के रूप में एक पिता तो ऐसा है जो पुत्र के मोह में इतना अधिक मोहित है कि वह संसार की सभी स्थितियों को भूलकर केवल पुत्र को ही अपने कण्ठ से लगाए अहर्निशि घूमता है तथा पुत्र के अतिरिक्त किसी का स्मरण भी नहीं करता। पुत्र के लालन-पालन में ही अपने को पूरी तरह से समर्पित कर देता है।[२]

....

१. क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्वः कृष्णः श्रीनिकेतनः।

स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान् स्वयम्।
स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिवृतः॥
भा. म. पु., पृ. ६४०

२. वही, पृ. ३०८

इसी प्रकार पुत्र के रूप में श्रीराम और पुरु का चरित्र भी इस प्रकार का है जिसमें वे अपने आचरण से पिता को संतुष्ट कर पुत्र धर्म का पालन करते हैं। श्रीराम कैकेयी द्वारा अपने पुत्र भरत के लिए राज्य की याचना किये जाने पर और राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास चाहने पर वे बिना किसी प्रकार का संकोच किए वन को चले गये और वे इस रूप में अपनी माता और पिता की आज्ञा का पालन करते हैं।[१]

इसी तरह से राजा ययाति अपने पूरे जीवन में यद्यपि सभी प्रकार के भोग भोगते हैं तथापि वे तृप्त नहीं होते। तब वे चाहते हैं कि उनकी युवावस्था और बनी रहे किन्तु ऐसा होता नहीं हैं और वे वृद्ध हो जाते हैं। तब वे युवावस्था अपने पुत्रों से मांगते हैं। उनके पुत्रों में पुरु ऐसे पुत्र हैं जो बिना किसी सोच विचार के अपना यौवन पिता को दे देते हैं।[२]

....

१. यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निर्देश -
स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं॥
भा. म. पु., पृ. ४५१

२. कोऽनुलोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान्।
प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद् विद्यते परम्॥
उत्तमशिचिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमो श्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः॥
इति प्रमुदितः पुरुः प्रत्यगृहाणज्जरां पितुः।
सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुजुषे नृपः॥
वही, पृ. ४५५

पुत्र के रूप में अपने धर्म का पालन करते हुए भी अनेक पात्र श्रीमद्भागवत महापुराण में दिखाई देते हैं। जैसे कि प्रह्लाद, जो यद्यपि राक्षसवंशी हैं तथापि वह भगवद् कृपा से युक्त होकर अपने पिता के अत्याचारों को सहता हुआ यह चाहता है कि उसके पिता सन्मार्ग का आश्रय लेकर अपने जीवन में चले। प्रहलाद का पिता अनेकशः यह प्रयत्न करता है कि वह प्रह्लाद का वध कर दे किन्तु प्रहलाद उन्हें समझाते हैं कि पिता ! न केवल आपका हित ईश्वरभक्ति में छिपा हुआ है अपितु सम्पूर्ण समाज का हित इसी में है कि वे सभी और आप-हम ईश्वर के प्रति कृतज्ञभाव वाले हो जावें।[१]

प्रहलाद का स्वभाव इतना सदय है कि जब नृसिंह रूपधारी भगवान् उनके पिता का वध कर देते हैं तो वे अपने पिता के अत्याचारों और अन्यायों को भूलकर भगवान् से यह प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु ! यद्यपि मेरे पिता ने आपकी निन्दा की है और इससे वे पाप के भागीदार हुए हैं तथापि प्रभु ! वे आपकी कृपा से निष्पाप हो जावें और कल्याण के अधिकारी बनें।[२]

....

१. न केवलं मे भवतश्च राजन् सवै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽपरेऽमी स्थिरजंगमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥
भा. म. पु., पृ. ३६५

२. वरं वरये एतत् मे वरदेशान् महेश्वर।
यदनिन्दत पिता मे त्वाम् विद्वांस्तेज ऐश्वरम्॥

तस्मात् पिता मे पूयेत दुरन्ताद् दुस्तरादघात्।
पूतस्तेऽपाङ्गं संदृष्टस्तदा कृपणवत्सला॥
वही, पृ. ३७३

गुरु-शिष्य धर्म -

गुरु और शिष्य तथा उनके आचरण और व्यवहार के संकेत भी श्रीमद्भागवत पुराण में दिखाई देते हैं। गुरु अपने शिष्य के हित चिन्तन में इतना अनुरक्त दिखते हैं कि वे कभी-कभी धर्म के लिए भी निषेध कर देते हैं और दान देने का विरोध करते हैं। जैसे कि वामन भगवान् के द्वारा तीन पग भूमि की याचना करने पर जब राजा बलि सहमत हो जाते हैं तो आचार्य शुक्र यह समझ लेते हैं कि राजा के साथ छल हो रहा है इसलिए वे राजा को दान देने से रोकते हैं और कहते हैं कि राजन् ! वह दान प्रशंसनीय नहीं है जिससे दानकर्ता की जीविका ही संकट में पड़ जावे। दान, यज्ञ, तप, कर्म वही श्रेयस्कर हैं जिनसे जीव की जीविका बनी रहे। अर्थात् वही दान श्रेयस्कर है जो धर्म के लिए, यश के लिए, कामनापूर्ति के लिए और स्वजनों के हित साधन के लिए समानरूप से नियोजित हो। सत्यरूपी पुष्प आत्मवृक्ष में पुष्पित होता है। यदि आत्मा का ही उच्छेद हो जाए, तो सत्य, दान, धर्म का अर्थ ही क्या होगा और इनका आधार भी भला कहाँ रहेगा?[१]

गुरु की इस बात को बलि ने स्वीकार नहीं किया तथा उसने जो तर्क इसके विरूद्ध दिए वे भी विचारणीय हैं और शिष्य की धर्मवृत्ति को प्रकट करते हैं। बलि ने कहा आचार्यवर ! आपने ने जो कहा वही सही है किन्तु मैंने जो देने का वचन दिया है, उससे भला कैसे बच सकता हूँ ? सत्य को बदला नहीं जा सकता और असत्य से बढ़कर कोई दोष नहीं होता है। मैं धन के लोभ से या कि अपने जीवन के लोभ से अपने द्वारा कही गयी बात को भला कैसे बदल दूँ ? दधीचि, शिव आदि ने तो परार्थ के लिये और सत्य पूर्वक दान देने की प्रवृत्ति की रक्षा के लिये अपना शरीर भी दे दिया।[२]

---

1. न तद् दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते। दानं यज्ञस्तप: कर्म लोके वृत्तिमतो यत:।।
धर्मायशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च। पंचधा विभजन वित्तं इहामुत्र च मोदते ।।
सत्यं पुष्कलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते। वृक्षे जीवति तन्न स्यादनृतं मूलमयत्यन: ।।
तद् यथा वृक्ष उन्मूल: शुष्यत्युद्वर्तते ऽचिरात्। एवं नष्टानृत: सद्य आत्मा शुष्येन संशय: ।।
भा. म. पु. ४२२-४२२

2. सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्।
अर्थकामयशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित्।।
स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम्।
श्रेय: कुर्वन्तिभूतानां साधवो दुस्त्यजासुभि:।
दध्यङ् शिविप्रभृतय: को विकल्पो धरादिवा ।। भा. म. पु. ४२३

श्री राम और महर्षि विश्वामित्र का वन विचरण भी इस संदर्भ में उदाहरणीय है कि महर्षि ने लोक कल्याण के लिए दशरथ से उनके पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण को शिक्षा देने के लिये मांग लिये। महर्षि श्रीराम को जो आज्ञा प्रदान करते थे श्रीराम उसका पालन करते थे। यहाँ तक कि स्त्री को अवध्य माने जाने पर भी ,श्रीराम ने अपने गुरु की आज्ञा पाकर उसका वध किया था और उन्हीं की इच्छा को मानकर खर,दूषण आदि का वध किया था। बाद में अपने कार्यकाल में उन्होंने ब्राह्मणों को निस्पृह मानकर आचार्य को भूमिदान भी किया था। शिष्य गुरु की आज्ञा पालन के लिये सतत् तत्पर रहते थे और आवश्यकता पड़ने पर अपने को भी दाँव पर लगा देते थे। श्री भगवान् कृष्ण और सुदामा के संदर्भ में यह तथ्य प्रकट होता है जब इन दोनों ने अपने गुरु का कार्य करते हुए और उनकी आज्ञा का पालन करते हुए स्वयं को संकट में डाल दिया था। एक बार गुरुपत्नी की आज्ञा से श्री कृष्ण और सुदामा आचार्य के लिये ईंधन लेने वन गये थे। जब वे वन में थे तभी भयानक मेघ आकाश में छा गये और वायु तथा वर्षा का प्रबल वेग एकदम से उपस्थित हुआ। इस स्थिति में श्री कृष्ण और सुदामा रास्ता भटक गए तथा वे पीड़ित होकर वन में इधर- उधर घूमते रहे। तब रात्रि व्यतीत होने के बाद संदीपन महर्षि व्यथित होकर वन में शिष्यों को खोजने गये और वहाँ उन्होंने कहा कि तुम दोनों ने हमारा कार्य करने के लिये अपने जीवन को दाँव पर लगा दिया। आचार्य प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि इसी प्रकार से सत् शिष्यत्व से ही गुरुसेवा पूर्ण होती है। मैं पूर्ण प्रसन्न हूँ और तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होवें।[१]

....

१. अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृतं निवसतां गुरौ।
गुरूदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित्॥

वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिर्निहन्यमानामुहुरम्बुसम्प्लवे।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः॥

अन्वेषमाणो नःशिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान्।

एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरूनिष्कृतम्।
तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः।
गुरोरनुग्रहणेनैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये॥ भा०म०पु०पृ०६३९-६४०

(छ) धर्म एवं आचार-

बौधायन धर्म सूत्र मे धर्म के तीन स्कन्धों का वर्णन किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि धर्म को श्रौत,स्मार्त और शिष्टाचार के रूप में जानना चाहिए। जिन कार्यो का कथन वेदों मे यज्ञ-यागादि के लिये किया गया है ,वे श्रौत धर्म हैं। जिनका वर्णन स्मृतियाँ करती हैं और जो आश्रम तथा कर्त्तव्यों के रूप में कहा गया है,वह स्मार्त धर्म है। शिष्टाचार वह धर्म का स्वरूप हैं,जिसका कथन सभी ग्रंथों में है और जो सभी के लिये सामान्य रूप से पालनीय है। यह एक प्रकार से सामान्य धर्म भी है।[१]

छान्दोग्योपनिषद् धर्म के तीन स्वरूपों की चर्चा करती है। इसके अनुसार धर्म का प्रथम स्कंध है यज्ञ, अध्ययन और दान। तप धर्म का दूसरा स्कंध है और ब्रह्मचारी का अपने शरीर को अत्यन्त क्षीण करके आचार्य कुल में रहना इसका तीसरा स्कंध है। इस संदर्भ में आचार्य शंकर ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि इनमें से प्रथम धर्म स्कंध ब्रह्मचारी के लिये, दूसरा गृहस्थ के लिये और तीसरा वानप्रस्थी के लिये माना जा सकता है।[२]

अन्य प्राचीन संदर्भो में भी ऋत और सत्य का कथन भी किसी न किसी रूप में धर्म और आचार का ही कथन है। वेद इस तथ्य का कथन इस रूप में करता है जिस रूप में यह कहा गया है कि सृष्टि में सर्व प्रथम ऋत और सत्य ही उत्पन्न हुए हैं।[३] बाद के समय में ऋत और सत्य के जो अर्थ ग्रहण किये गये,उसके अनुसार सत्य का अर्थ है उचित,सच्चा,और सम्मानित।[४] इसी प्रकार ऋत का अर्थ किया गया- यथार्थ, ईमानदार और वास्तविक।[५] अन्य अर्थ भी ऋत और सत्य के सम्बन्ध में किये गए हैं, जिनमें ऋत को शुभ, सत्य तथा हित आदि का पर्याय माना गया है।[६] इसी दृष्टि से एक विद्वान ने कहा है कि वरुण ऋत के अधिपति देवता हैं, जिसका अर्थ विश्व-जनीन नियमों के लिये होता था और बाद में जिसे नैतिक नियमों के रूप में जाना जाने लगा।[७] इस रूप में प्राचीन संदर्भ धर्म को और आचार को प्रमुख रूप से मानसिक तथा शारीरिक क्रिया के रूप में देखते हैं जो स्व के लिये तथा पर के लिये भी मंगलकारी हो।

....

१- वही १/१/१-४ २- वही पृ.२१४ से २१७ तक शांकरभाष्य।
३- ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ ऋग् १०/१९०/१
४- सं. श. कौ., पृ.२६५,भा. नी. वि., पृ. ३२ ५- वही, पृ.११६०,
६- भा.,पृ. ११६० ७- हि. स., पृ. १०४

(ज) धर्म एवं आचार के सम्बधित कारक-

धारण करने के अर्थ में धर्म और आचरण करने के अर्थ में आचार यद्यपि कथन में पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु इन दोनों में कहीं न कहीं अन्तःसूत्र भी जुड़े हुए हैं। उदाहरणार्थ अहिंसा, सत्य , ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय आदि ऐसे हैं जो धारण करने के अर्थ में हैं और मनुष्य के लिये आचरणीय होने के कारण आचार हैं इसलिए धर्म और आचार के तत्व इन दोनों के कहीं न कहीं समान कारक भी कहे जा सकते हैं।

सत्य - सत्यान्नास्ति परोधर्मः- जैसी सूक्तियां सत्य के उस रूप का कथन करती हैं जो व्यक्ति के जीवन के लौकिक और पारलौकिक आचरण की सीमा रेखा तय करती हैं। उपनिषदें तो इस संदर्भ में यह कहती हैं कि जो सत्य बोलता है, वह धर्म बोलता है, क्योंकि सत्य और धर्म दोनों ही एक हैं।[१] सत्य की व्यापकता इतनी है कि इसमें तप,दम,कर्म तथा सम्पूर्ण वेदान्त समाहित हैं। सत्य इन सभी का आश्रय स्थान है।[२] सत्य का व्यवहार जीवन में जिस प्रकार किया जा सकता है उसका उदाहरण सत्यकाम जाबालि की कथा में देखा जा सकता है, जिसमें वह अपने पिता का नाम न जानकर अपने आचार्य को अपनी माता का नाम बताता है किन्तु असत्य का आश्रय नहीं लेता।[३]

महर्षि पतंजलि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ योगसूत्र में अष्टाङ्ग योग का वर्णन किया है और उसमें यम के अन्तर्गत सत्य का कथन किया है। उस रूप में सत्य मानसिक और व्यवहारिक रूप से उभयविधि से पालनीय हो जाता है।[४] सत्य के धर्मरूप का कथन महर्षि मनु ने स्पष्ट रूप से किया है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीरता,विद्या, सत्य और अक्रोध के रूप में धर्म की जो परिभाषा की गई है,उसमें सत्य को भी गिना गया है। इसलिये सत्य और धर्म को एक मानकर वे कहते हैं कि सत्य का ही प्रयोग जीवन में करना चाहिए।[५]

....

१. यो वैधर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहु ....बृह० १/४/१४

२. ई० द्वा०उ०पृ० १२ ....

३. छान्दो, पृ.४/४/१-५..

४. पा० यो०प्र० पृ०३७९, ३८१

५. धृतिक्षमार्दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।
सत्यं ब्रूयात् ....॥ म०स्मृ०,पृ०२३९,१६४

श्रीमद्भागवत महापुराण में भी सत्य का स्वरूप इसी भांति प्रतिपादित किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि अहिंसा,सत्य, अस्तेय आदि यम हैं और सभी के प्रति समदर्शन दृष्टि ही सत्य स्वरूपा है। इसी रूप में वहां सत्य मानसिक और व्यवहारिक रूप में धारण योग्य होने से धर्म है।

अहिंसा-

अहिंसा भी एक ऐसा कारक है जो धर्म और आचार के स्तर पर समान रूप से देखा जा सकता है। उपनिषदों के पूर्व वैदिकी हिंसा के नाम से जो हिंसा पहले प्रचलित थी, उसका निषेध ब्राह्मण ग्रन्थों में किया जाने लगा था और यह कहा जाने लगा था कि जो कोई यज्ञ के नाम पर हिंसा करता है, हिंसित जन्तु परलोक में उसका भक्षण करते हैं।[१] औपनिषदिक चिन्तन तो स्वयं इस बात का साक्ष्य है कि वहाँ पर हिंसा का कोई स्थान हो ही नहीं सकता क्योंकि वहाँ तो सर्वात्मवाद का दर्शन सभी में एक आत्मा का दर्शन करता है इसलिए वह किसी की हिंसा का पक्षपाती हो ही नहीं सकता है। उपनिषदें गृहस्थ धर्म के लिए जो कथन करती हैं, उसमें वे यह कहती हैं कि गृहस्थ किसी की हिंसा न करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करे। वह सदा सभी के प्रति अहिंसा का व्यवहार करे।[२] इसी तरह से अहिंसित जीवन का एक उदाहरण इस प्रकार भी है जिसमें यह कहा गया है कि कोई भी क्षत्रिय कभी भी किसी भी ब्राह्मण की हिंसा न करे क्योंकि ऐसा करता हुआ वह अपनी योनि का नाश कर लेता है।[३]

श्रीमद्भागवत पुराण भी अहिंसा को उसी प्रकार से महत्त्व देता है कि जैसे योग सूत्रकार अपने अष्टांग योग में अहिंसा का कथन महत्त्वपूर्ण रूप से करते हैं। इस पुराण के सप्तम् अध्याय में जब महर्षि नारद से महाराज युधिष्ठिर मनुष्यों के लिए पालनीय धर्म जानना चाहते हैं तब महर्षि कहते हैं कि सत्य, दया, तप,शौच, तितिक्षा, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग और स्वाध्याय मनुष्य के लिए पालनीय है। इनमें अहिंसा का महत्त्व स्वतः ही दर्शनीय हो जाता है।[४]

....

१- श. ब्रा. ११/१३ २- छान्दो. ८/१५/११ ३- बृहदा. १/४/११

४- सत्यं, दया तपः दानं तितिक्षेक्षा शमोदमः। अहिंसा ब्रह्मचर्य च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
भा. म. पु., पृ. ३७६

क्षमा-

धर्म के विविध अंगों और उपांगों में क्षमा का भी आकलन महत्त्वपूर्ण रूप से किया गया है। यह आकलन योग रूप में तो स्पष्ट रूप से किया हुआ दिखाई देता है। श्रीमद् भागवत महापुराण में क्षमा के प्रसंग अनेक बार आए हैं , जैसे कि कौरवों और पाण्डवों के विग्रह में द्रोणपुत्र ने अत्यधिक जघन्य कार्य किया। उसने द्रौपदी के पाँच पुत्रों की सोते समय हत्या कर दी और उनके मस्तक काट दिये। यह कर्म अत्यधिक निन्दा का कर्म था और ऐसे कर्मकर्ता का वध किया जाना ही एक मात्र दण्ड हो सकता था। भीम ने यह कहा भी था कि जो इतना अधिक निन्दनीय कार्य कर सकता है, उसका वध किया जाना ही एकमात्र दण्ड है,[१] किन्तु द्रौपदी ने, जिसके पुत्रों का वध किया गया था, कहा कि यह गुरु पुत्र है इसलिए इसे क्षमा कर देना चाहिए। यह अवध्य है और मैं नहीं चाहती कि जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों से वियुक्त होने पर व्यथित हूँ उसी प्रकार से इसकी माँ भी इसके वध किये जाने पर दुखी होवे।[२]

....

१-तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः।

न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन्तिसुप्तांशिशून्॥

भा. म. पु.,पृ. ६१

२-मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः।

मारोदीदस्य जननी गौमती पति देवता। यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी बहुः॥

वही, पृ.६१

क्षमा के अन्य संदर्भों में दो कथानक और भी संदर्भित किये जा सकते हैं जब उनमें क्षमा का स्वरूप देखने को मिलता है। उदाहरण के लिये दक्ष प्रजापति का यज्ञ है जिसमें भगवान् शिव का अंश नहीं दिया गया है और उनका अपमान किया गया है। उस अपमान को न सह सकने के कारण सती ने आत्मदाह किया और तब क्रोधित होकर शंकर के गणों ने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर दिया और दक्ष का सिर काट दिया। इस स्थिति में सभी देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना कि वे दक्ष को क्षमा करें। तब भगवान् शंकर ने दक्ष को क्षमा किया और उन पर कृपा की।[१]

निष्कर्ष-

इस रूप में श्रीमद्भागवत महापुराण में धर्म का नीति के तारतम्य में जो विवेचन किया गया है, वह मनुष्य के आचार के रूप में ही देखा जा सकता है। मानसिक रूप से ज्ञान को क्रिया रूप में परिणत किया जाना ही एक प्रकार से आचार है क्योंकि आचरण ही आचार के मूल में मुख्य रूप से होता है। कोई भी धर्म का कारक और नीति का विचार तब तक सार्थक और प्रभावी नहीं होता, जब तक वह क्रिया रूप में दिखाई नहीं देता अथवा मनुष्य के जीवन में उतरता नहीं है। जैसे ही धर्म का कोई अंग अथवा नीति का कारक मनुष्य के आचरण में आ जाता है, वह आचार कहा जाने लगता है और तभी वह सार्थक हो जाता है। श्रीमद्भागवत में धर्म का यह स्वरूप दिखाई देता है।

....

३-भयानुग्रह अहो भवता कृतो मे दण्डस्त्वया.................।

क्षमाप्यैव स मीढवांसं ब्रह्मणा चानुमंत्रत: ॥

भा. म. पु. पृ. १९६

---------इति श्री---------

उद्धृत ग्रन्थ सूची

१-	अथर्ववेद (खण्ड प्रथम)	संस्कृति संस्थान, बरेली
२-	अथर्ववेद (खण्ड द्वितीय)	संस्कृति संस्थान, बरेली
३-	आश्वलायन गृह्यसूत्र	ईस्टर्न बुक लिंकर्स-१९७६
४-	आपस्तम्ब धर्मसूत्र	पूना- १९२२
५-	ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट	डॉ. राधाकृष्णन
६-	ईशादि द्वादशोपनिषद्	विद्यानन्द गिरि ऋषिकेश १९७६
७-	उशना स्मृति	कैलाश विद्या प्रकाशन
८-	उपनिषद् कालीन समाज एवं संस्कृति	डॉ. राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी परिमल पब्लिकेशन १९७७
९-	ऋग्वेदम्	सायण भाष्य सहितम्
१०-	ए. बि. ओ. आर. आई.	
११-	ए मैनुअल ऑफ इण्डिया	डॉ. जे. एन. सिन्हा
१२-	ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	लन्दन-१९२५
१३-	कठोपनिषद्	गोविन्द मठ ट्रस्ट टेढ़ी नीम वाराणसी
१४-	हिन्दू संस्कृति अंक	गीता प्रेस गोरखपुर
१५-	कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम द वायुपुराण	डी. आर. पाटिल दिल्ली १९७३
१६-	कादम्बरी कथामुखम्	राजेन्द्र मिश्र,अक्षय प्रकाशन इलाहाबाद १९८९
१७-	कूर्मपुराणांक	वर्ष- ७७, अंक- १ गीता प्रेस
१८-	कौटिल्य अर्थशास्त्रम्	वाचस्पति गैरोला , चौखम्बा विद्याभवन- १९६२

१९-	गोपथ ब्राह्मण	गाएट्रा सम्पादित
२०-	छान्दोग्योपनिषद्	गोविन्द मठ टेढ़ी नीम, वाराणसी
२१-	छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
२२-	जनरल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी	
२३-	तैत्तरीय आरण्यक	
२४-	द ग्रेट एपिक ऑफ इण्डिया	प्रो. हाकिन्स
२५-	देवी भागवत	बंगवासी प्रेस, कलकत्ता
२६-	निरुक्त	
२७-	नीति दर्शन की पूर्व पीठिका	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी १९८२
२८-	पद्म पुराण	अशोक चटर्जी
२९-	पातञ्जलयोग प्रदीप	गीता प्रेस,गोरखपुर संवत् २०४५
३०-	पुराण इण्डेक्स भूमिका	बी. आर. आर. दीक्षितार मद्रास
३१-	पुराण तत्व मीमांसा	हि. प्र. मण्डल लखनऊ १९६१
३२-	पुराण पत्रिका	सर्व भारतीय काशी न्यास दुर्ग वाराणसी
३३-	पुराण विमर्श	पं. बलदेव उपाध्याय,चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी - १९६७
३४-	पुराण समीक्षा	डॉ. हरिनारायण दुबे, इन्टरनेशनल इंस्टीट्यूट- फॉर रिसर्च, इलाहाबाद

३५-	प्रारम्भिक आचारशास्त्र	अशोक कुमार वर्मा मोतीलाल बनारसी दास १९९५
३६-	ब्रह्मवैवर्तपुराण	डॉ. वैकुन्ठनाथ शर्मा , जयपुर
३७-	ब्रह्मवैवर्तपुराण सांस्कृतिक विवेचना	डॉ. वैकुन्ठनाथ शर्मा , जयपुर
३८-	ब्रह्माण्ड पुराण	खेमराज श्रीकृष्ण, मुम्बई १९०६
३९-	बृहदारण्यकोपनिषद्	शांकरभाष्य गीता प्रेस, गोरखपुर
४०-	बृहस्पति स्मृति	ए.ए.फ्यूहर लिपजिंग १९७९
४१-	बोधायन धर्मसूत्र	वाराणसी १९३४
४२-	भगवद्गीता	गीता प्रेस, गोरखपुर
४३-	भारतीय नीतिशास्त्र	डॉ. दिवाकर पाठक बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी १९८२
४४-	भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास	डॉ. भाखा लाल हिन्दी समिति सूचना विभाग १९८४
४५-	भारतीय नीति का विकास	डॉ. राजबली पाण्डेय बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् ,पटना
४६-	भागवत पुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर
४७-	मत्स्य पुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर
४८-	मत्स्य पुराण (कल्याण विशेषांक)	गीता प्रेस, गोरखपुर
४९-	मत्स्य पुराण (कल्याण विशेषांक)	गीता प्रेस ,गोरखपुर
५०-	मनुस्मृति	हिन्दी पुस्तकालय ,मथुरा
५१-	महाभारत हिन्दी टीका सहित	गीता प्रेस, गोरखपुर
५२-	महाभारत में शान्ति-पर्व का आलोचनात्मक अध्ययन	ईस्टर्न बुक लिंकर्स १९८४
५३-	मीमांसा प्रमेय	डॉ. रामप्रकाश दास सुकृति प्रकाशन नई दिल्ली १९८८

५४- मुण्डकोपनिषद् — गीता प्रेस गोरखपुर

५५- मैनुअल ऑफ एथिक्स — प्रो. मेकेन्जी

५६- याज्ञवल्क्य स्मृति — वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री बम्बई १९२६

५७- याज्ञवल्क्य स्मृति — मिताक्षरा टीका सहित

५८- द लाइफ डिवाइन — श्री अरविन्द महर्षि

५९- लिंग पुराण — मोती लाल बनारसी दास वाराणसी १९८०

६०- व्यास स्मृति — ए. ए. फ्यूहर मुम्बई १९१८

६१- वशिष्ठ धर्मसूत्र — पूना प्रकाशन, १९०५

६२- वायु पुराण — नाद प्रकाशन दिल्ली १९८३

६३- वायु पुराण-२ — नाद प्रकाशन दिल्ली १९८३

६४- वाल्मीकि रामायण — महर्षि वाल्मीकि

६५- विष्णु पुराण प्रथम खण्ड — संस्कृत संस्थान बरेली १९८६

६६- शतपथ ब्राह्मण — काशी वि. सं. १९९४

६७- शुक्र नीति — कलकत्ता १९९०

६८- शुक्र नीति सार

६९- स्कन्द पुराण — वैंकटेश्वर प्रसाद प्रेस, १९१६

७०- स्टडीज इन उपपुराणाज़ — प्रो. हाजरा

७१- सत्यार्थ प्रकाश — दयानन्द संस्थान, सम्वत् २०२९

७२- संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ — रामनारायण लाल, बेनी प्रसाद, इलाहाबाद १९७७

७३- हिन्दी विश्व कोश प्रथम खण्ड — राजकमल प्रकाशन

७४- हिन्दू सभ्यता — डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी

७५- हिन्दू धर्म भाग-२ — प्रो. दासगुप्ता

७६- हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर

---------o---------